प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,

नई दिल्ली

पहली बार : १९६४

मूल्य

दो रुपये

मुद्रक

नेशनल ऑफसेट वर्क्स,

नई दिल्ली १५,

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में महात्मा भगवानदीनजी के बाईस लेख संग्रहीत किये गए हैं, जो उन्होंने आजादी के संबंध में लिखे थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि यह संग्रह जल्दी प्रकाशित हो जाता, लेकिन ऐसा संभव न हो सका, और अब जब यह पुस्तक निकल रही है, महात्माजी इस संसार में नहीं हैं। हमें इस बात का बड़ा दुख है और यह दुख सदा बना रहेगा।

महात्माजी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी में उनकी कई पुस्तकें निकली हैं। पत्र-पत्रिकाओं में तो उनके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए हैं। महात्माजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह मौलिक ढंग पर सोचते थे और मौलिक ढंग से अपनी बात कहते थे। उनके विचारों में कहीं भी उलझन नहीं है। इसलिए उनकी भाषा स्पष्ट और सुबोध है।

इस पुस्तक के निबंध अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें उन्होंने बताया है कि आदमी के लिए वास्तविक आजादी क्या है और वह किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। अपनी इन रचनाओं में उन्होंने उन बंधनों पर, जो मनुष्य को बांधते हैं, कहीं-कहीं बड़ी तीव्रता से प्रहार किया है और अनेक स्थानों पर बहुत-सी प्रचलित मान्यताओं का भी खण्डन किया है।

असल में वे चाहते थे कि हर आदमी सच्चे अर्थों में स्वतंत्र हो और इस प्रकार की स्वतंत्रता जिन-जिन बातों पर निर्भर करती है, उन सबपर उन्होंने इस पुस्तक में विचार किया है। वह किसी प्रकार की भी दासता सहन नहीं कर सकते थे और मानते थे कि छोटे-से-छोटा बंधन भी मनुष्य की आजादी के लिए घातक है।

इसका अर्थ यह न समझा जाय कि महात्माजी निरंकुशता को आजादी मानते थे। नहीं, ऐसी बात नहीं थी। रवीन्द्र ठाकुर ने लिखा है, "मुक्ति ? मेरे लिए मुक्ति सबकुछ छोड़ देने में नहीं है। आनन्द के सहस्र बंधनों के बीच मुझे स्वतंत्रता के स्पर्श की अनुभूति होती है।"

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज के लिए चुनौती बनकर कोई भी व्यक्ति आजादी का सुख अनुभव नहीं कर सकता। हर आदमी का अपने प्रति और समाज के प्रति कुछ कर्तव्य एवं दायित्व है। जो जितनी सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपने उस कर्तव्य का पालन और दायित्व का निर्वाह करता है, वह उतना ही आजाद है।

पूरी पुस्तक मौलिक विचारों से ओतप्रोत है। उसमें नये-नये विचार ही नहीं दिये गए हैं, नये ढंग से सोचने का तरीका भी बताया गया है।

महात्माजी का सबसे बड़ा गुण उनकी निर्भीकता थी। उनका यह गुण इस पुस्तक में विशेष रूप से दिखाई देता है। उन्होंने अपनी बात बिना किसी मुलाहिजे के कही है और इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि जिसे पूरी तरह आजाद होना है, उसे किसीका भी भय नहीं रखना चाहिए।

राजनैतिक दृष्टि से हमारा देश आजाद हो गया है, लेकिन सच्ची आजादी से वह अभी कोसों दूर है। लम्बी गुलामी के कारण हमारे देशवासियों के दिल और दिमाग अब भी बहुत-से अवांछनीय तत्वों से जकड़े हुए हैं और यही कारण है कि एक स्वतंत्र देश को जिस प्रकार खिलना चाहिए था वह खिल नहीं पा रहा है।

ऐसी परिस्थिति में यह पुस्तक वास्तव में बड़े काम की है। यह सही रास्ता बताती है; इतना ही नहीं, उसपर चलने का हौसला भी देती है।

ऐसी पुस्तकें लाखों की संख्या में निकलनी चाहिए और घर-घर पढ़ी जानी चाहिए। राजनैतिक आजादी तभी टिकेगी, जबकि देश के नागरिक उसके योग्य बनेंगे।

महात्माजी की एक और इसी प्रकार की प्रेरणादायक पुस्तक हम शीघ्र ही प्रकाशित कर रहे हैं। वह पुस्तक भी अपने ढंग की बहुत ही उपयोगी रचना है।

हम आशा करते हैं कि इस तथा आगे आनेवाली पुस्तक का देशव्यापी प्रचार होगा और पाठक न केवल इसे पढ़ेंगे, अपितु इसके विचारों के अनुरूप अपने जीवन को भी ढालेंगे।

—मंत्री

विषय-सूची

सच्ची आजादी

विषय-सूची

सच्ची आजादी

सच्ची आजादी

: १ :

अपनेको जीतो

बंधन खुले कि आजादी आई, यह गलत है। बंधन खुले कि पराधीनता आई, यह ठीक है। बंधन में यह ठीक है कि हमारा मन नहीं बदलता। पर बेबंधा मन किस काम का, जब न वह इन्द्रियों पर शासन कर सके, न तन पर! ऐसे बेबंधे मन को बन्धनहीन कह बैठना कोरी ढीठता है।

बाहरी बंधन और अंदरूनी बंधन हैं तो ये दोनों अलग-अलग, पर प्रायः साथ-साथ पाये जाते हैं। तोते का बंधन पिंजड़ा ही नहीं है, पिंजड़े के अन्दर एक और बंधन है, जिसने उसके हाथ-पैर तोड़ रक्खे होते हैं। उसके पंखों की उड़ान बांध रखी होती है। उसका पंछीपन उससे छीन लिया होता है। यह बंधन बाहरी बंधन से कहीं ज्यादा मजबूत होता है। न हो तो उसकी खिड़की खोलकर देख लीजिये, यानी उसको बंधन-मुक्त कर दीजिये। फिर देखिये, वह पिंजड़े से कैसे चिपकता है।

जब हम मुक्त होते हैं तो बड़ी-बड़ी उड़ान लेनेवाला हमारा मन हमारी इन्द्रियों के जाल में फंस चुका होता है। यह बंधन-मुक्त मन इन्द्रियों के अधीन होता है। बंधन खुलते ही स्वच्छन्द हो जाता है। फिर उच्छृङ्खल हो उठना लाजमी है। स्वच्छन्दता

और उच्छृङ्खलता दासता की कोटि में आते हैं। इसलिए खुले बंधन को स्वाधीन कहना भूल होगी।

यह सम्भव है कि सैकड़ों तरह के बंधनों में बंधा हुआ आदमी भी स्वाधीन हो सकता है, क्योंकि स्वाधीनता ऐसी चीज ही नहीं, जो बंधन की दाब माने। स्वाधीन व्यक्ति के लिए तो खुले बंधन कहना बेकार है। वह तो बंधन में भी मुक्त है, क्योंकि वह बंधन को मानता ही नहीं।

जो व्यक्ति बंधन को मानता है, वह मुक्त होते हुए भी बंधा हुआ है। ऐसा आदमी जब बंधन से खुलता है तो दुगुना उच्छृङ्खल हो उठता है। यह दूसरी बात है कि उसकी स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता उसीके लिए ज्यादा घातक होती है। उसीको ज्यादा हानि पहुंचाती है। पर इस बात का पता तो उसे तब चलता है, जब वह अपना नुकसान कर चुका होता है। यही कारण है कि बहुत दिनों की गुलामी के बाद जब देश आजाद होते हैं तो गलती-पर-गलतियां करते हैं। इसलिए ये खुले बंधन कभी-कभी बड़े भयानक सिद्ध हो जाते हैं। आजाद और आत्म-प्रेमी आदमी को इसकी जानकारी बहुत आवश्यक है।

देश के मुखिया जब अपने परतन्त्र देश को स्वतन्त्र करने की सोचें तो उनके लिए इस काम में हाथ डालने से पहले स्वाधीन यानी आत्माधीन होना बड़ा जरूरी है। स्वाधीन व्यक्ति कर्मठ और आलस से रहित होता है। स्वाधीनता ही एक अकेला ऐसा गुण है, जो बाहरी बंधनों के खुलने पर मनुष्य को स्वच्छन्द और उच्छृंखल होने से बचाता है और तभी वह उन भूलों से बच जाता है, जो बंधन-मुक्त लोग अक्सर करते हैं।

भारत अंग्रेजों की गुलामी से आजाद हुआ। उसके मुखियाओं

में कई सच्चे अर्थों में स्वाधीन थे। लेकिन वे कुछ ही थे, सब-के-सब नहीं। इसलिए उसको बंधन-मुक्त होने के बाद दुःख भोगने पड़े, पर अपेक्षाकृत कम। अब भी वे गलतियों-पर-गलतियां किये जाते हैं, और बराबर करते रहेंगे जबतक कि उसके सब-के-सब मुखिया स्वाधीन न हो लें। इसलिए बंधनों की समाप्ति अगर व्यक्ति के लिए दस गुना हानिकर है तो समाज के लिए सौ गुना है।

खुले बंधन के दोषों से नहीं बचा जा सकता। इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि हम बंधन-मुक्त होने की कोशिश न करें। मतलब सिर्फ इतना ही है कि हम इसके लिए तैयार रहें कि हमें इन आफतों में से होकर गुजरना पड़ेगा।

लाठी पर भरोसा करना हमारा स्वभाव बन गया है। कारण यह है कि मनुष्य प्राचीन काल में पशुओं के साथ रहता था और सारे पशु लाठी पर भरोसा करते हैं, यानी अपने सींग और पंजों पर भरोसा करते हैं। उन्हींके बल पर वे बंधन-मुक्त होते हैं। उन्हींके बल पर वे विजय प्राप्त करते हैं। उन्हींके बल पर वे दूसरे पशुओं को दास बनाते हैं। संक्षेप में, लाठी ही उनकी देवी है। अब मनुष्य लाठी पर भरोसा न करे तो क्या करे?

उसने पशुओं की देखा-देखी लाठी सम्भाली। सूअरों, शेरों, बैलों को अपना गुरु माना, अपना देवता बनाया। गरुड़ पक्षी की पूजा की। सांप तक से पाठ लिया। चींटी से पाठ लिया। और तो और, वह अपने बच्चों को यह कहकर भड़काने लगा कि धूल भी पददलित होने पर रथ का पीछा करती है। फिर तुम क्यों नहीं लाठी उठाते! खुलासा यह कि लाठी की तारीफ

में हमारा सारा साहित्य भरा पड़ा है। वंगला के एक उपन्यास में तो वंकिमवावू ने लाठी (जीहां, यही छः फुट का डण्डा), लेकर पन्ने-के-पन्ने रंग डाले हैं। फिर आदमी लाठी पर भरोसा न करे तो किसपर करे !

यह ठीक है कि मानव-समाज ने आगे चलकर स्वाधीन मनुष्य पैदा किये। उन्होंने स्वाधीनता के चमत्कार समाज के सामने रखे। उन्होंने प्रेम में डूवकर यह सिद्ध कर दिया कि वे घोर वियावान में अकेले हिंस्र पशुओं से सुरक्षित ही नहीं रह सकते, प्रेम भी हासिल कर सकते हैं। पर ऐसे स्वाधीन तो इतने कम हुए हैं कि उन्हें अंगुलियों पर गिना जा सकता है। *मतलव यह कि मनुष्य ने सामाजिक रूप से कभी स्वाधीनता* की कद्र नहीं की। यही कारण है कि वह वंधनों में वंधता रहा, खुलता रहा। खुलना और वंधना उसका स्वभाव हो गया है। खुला रहना उसे अच्छा नहीं लगता। थोड़ी देर के लिए ही अच्छा लगता है। वंधे रहने को उसका जी चाहने लगता है। वंधे-वंधे भी ऊव उठता है। यही वजह है कि वंधन-मुक्त होकर भी वह वंधन की चाह में वंधा रहता है।

आजाद और आत्म-प्रेमी व्यक्ति का धर्म हो जाता है कि वह खुले वंधन का अर्थ समझ ले और खुले वंधन होने से पहले स्वाधीन हो ले।

: २ :

तन का संयम

उच्छृङ्खलता मोटे रूप में सबको दिखलाई देती है। पर इसके सूक्ष्म रूप भी हैं। इससे बड़े-बड़े ज्ञानी भी नहीं बच सकते। आजाद और आत्म-प्रेमी व्यक्ति भी उसके शिकार बने हुए पाये जायंगे। जिस तरह सांस लेना आवश्यक है उसी तरह उच्छृङ्खलता की लहरों पर सवार होकर जीवन बिताना आवश्यक है। सूक्ष्म स्वरूप में यह किसी काम में बाधक नहीं होती, उल्टी सहायक बन बैठती है। जिस प्रकार आग से बड़े-बड़े जंगल भस्म किये जा सकते हैं, पर उसीके छोटे रूप से खाना बनाया जा सकता है, उसी तरह उच्छृङ्खलता के छोटे रूप से विचार करने में सहायता मिल सकती है। तन की उच्छृङ्खलता, मन की उच्छृङ्खलता का विकसित रूप होती है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि मन की मौज से बुद्धि का बंधन तोड़कर तन जो क्रियाएं कर डालता है वे सब तन की उच्छृङ्खलता कहलाती हैं। ये क्रियाएं ही हानिकर होती हैं। जिन्हें त्याज्य कहा गया है, वे ये ही हैं।

तन की उच्छृङ्खलता की सूक्ष्म क्रियाएं उत्पन्न तो मन की मौज से ही होती है, पर उनके पीछे बुद्धि का एक नियम रहता है। वे चाहे उपादेय न हों, लेकिन हेय नहीं समझी जा सकतीं। जो इन क्रियाओं को करता है, उसके लिए ये उपादेय-सी ही मालूम होती हैं। दूसरों की दृष्टि में वे उपादेय नहीं जंचती

शराब को सभी खराब कहते हैं, पर जो व्यक्ति शौ

परिमाण में पीने के आदी हो जाते हैं और उसके नशे पर अधिकार करना सीख जाते हैं, वे उस खराब चीज़ से भी सूक्ष्म विचार करने में मदद ले लेते हैं। वे इस ओर से ध्यान ही हटा लेते हैं कि खराब चीज़ तो खराब ही रहेगी, वह अच्छी कैसे हो सकती है। उससे जो फायदा उठाया जाता है, वह किसी नुकसान के बदले में ही उठाया जाता है। साइकिल की सवारी हमारी चाल को जरूर तेज कर देती है, पर हमारी पैदल चलने की ताकत को बेहद घटा देती है। क्षणिक फायदे के लिए हम स्थायी नुकसान कर बैठते हैं। शराब का भी यही हाल है। शराबियों की बुद्धि और स्मृति कुण्ठित हो जाती है। वह शराब के नशे के बिना काम नहीं कर सकती। ये स्थायी नुकसान कुछ अच्छी चीज़ नहीं।

शराब मन को उच्छृङ्खल बनाती है। तन को अनोखे ढंग की उच्छृङ्खलता देती है। यह उच्छृङ्खलता एक दूसरी उच्छृङ्खलता की दासी होती है। यह बहुत ही भयानक होती है। "करेला और नीम चढ़ा।" "बावली और कुत्ता काटी।" "उच्छृङ्खलता और दासी।" वह तो जो कर डाले सो कम। यहां यह तो याद ही रखना चाहिए कि दास और दासी में जो कमजोरियां होती हैं, उनसे उच्छृङ्खलता खाली नहीं होती। उदाहरण के लिए दास यानी फौज का सिपाही या और भी किसी तरह का नौकर जितना बहादुर होता है, उससे दुगुना डरपोक होता है। फौज का सिपाही विदेशी राजा का सर काट सकता है, पर अपने मामूली नायक की तरफ आंख उठा-कर नहीं देख सकता। यह उसी बहादुरी का दूसरा भाग है। इसी तरह यह दासी उच्छृङ्खलता बेहद डरपोक होती है।

यही कारण है कि उच्छृङ्खलता की क्रियाएं वहादुरी में नहीं गिनी जातीं। शराव के नशे में किये हुए कृत्य, चाहे वे विचार-सम्वन्धी हों या देह-सम्वन्धी, ज्यादा मूल्यवान नहीं समझे जाने चाहिए।

शराव का असर मन पर वहुत ज्यादा होता है, यह कह-कर हम यह कहना चाहते हैं कि उसका दिल फूल उठता है। दिल वड़ा हो जाता है। वुद्धि कुण्ठित हो जाती है। थोड़े या संयत नशे में कुण्ठित वुद्धि कभी-कभी कुशाग्र वुद्धि का काम कर जाती है। पर उसे अपवाद ही मानना चाहिए। नियम वना वैठना धोखे से खाली नहीं है। एक तरह से नशे की हालत में दिल का वुद्धि से रिश्ता कट जाता है। यही वजह है कि शरावी अपना भूत भूल जाता है। इसलिए उसका मन उच्छृङ्खल हो उठता है। तन को नियमानुसार उसका अनुकरण करना पड़ता है। अनुकरण ही करना पड़ता है, कोई उत्साहपूर्ण क्रिया वह नहीं कर सकता, क्योंकि मन तन की पूरी सहायता नहीं करता। इसी कारण नशे में तन की हल्की-भारी सव क्रियाएं वेजोड़ और वेतुकी होती हैं।

नशे को छोड़िये। तन की और भी सूक्ष्म क्रियाएं हैं, जो उच्छृङ्खलता की कोटि में आती हैं, जो निरर्थक और वेजोड़ होती हैं, पर वे ज्ञानियों के वड़े काम आती हैं। सोचने-विचारने में वड़ी सहायक होती हैं। वे हानिकर न होने के कारण हेय न भी हों, उपादेय नहीं कही जा सकतीं। उदाहरण के तौर पर व्याख्यान देते समय हाथ में कागज का टुकड़ा लेकर उसे चीरे जाना, चीरे जाना। इससे व्याख्यान का सिलसिला तो ठीक रहता है, पर अगर कोई उस व्याख्याता के हाथ से वह

कागज छीन ले तो उसके व्याख्यान का क्रम ही विगड़ जायगा। यह सूक्ष्म उच्छृंखलता उस एक व्यक्ति के लिए भले ही उपादेय हो, पर अनुकरणीय तो है ही नहीं, हेय ही समझी जायगी।

व्याख्यान देते समय सरोता निकालकर सुपारी काटते जाना भी एक ऐसी ही क्रिया है। यह अनुकरणीय नहीं, हेय है। यह आदत जिस किसीको हो, उसे छोड़नी चाहिए। कुछ ऐसे व्याख्याता देखे गये हैं, जो गले में पड़े दुपट्टे को ऐसे दोहते रहते हैं, जैसे कोई वकरियों के थन को। उच्छृ-ङ्खलता का ऐसा सूक्ष्म रूप उनके लिए आवश्यक वन वैठता है, जो ऐसा करने के अभ्यासी हो गये हैं। ऐसे व्याख्याता देखे जा सकते हैं, जो व्याख्यान के समय अपनी तर्जनी और अंगूठे के भाग को इस तरह घुमाते रहते हैं, मानों वैद्य के किसी नौकर की तरह गोलियां वना रहे हैं। यह भी उच्छृंखलता का सूक्ष्म रूप है।

व्याख्यान देते-देते दाढ़ी पर हाथ फेरना, कभी दायां हाथ उठाना, कभी वांया हाथ उठाना, कभी वेमतलव सिर हिलाना इत्यादि ऐसी क्रियाएं हैं, जो अभ्यास के कारण आवश्यक हो जाती हैं।

'मेज-तोड़ व्याख्यान', 'तख्त-तोड़ व्याख्यान', हमारे पाठकों ने खूव सुने होंगे। ये तन की उच्छृङ्खलता के भयानक रूप हैं। इसकी गिनती आवश्यक वुराइयों में ही की जा सकती है।

कुछ ऐसे कर्म हैं, जहां अपवाद-रहित सभीका तन उच्छृंखल हो उठता है। जैसे नहाना और खास तौर से नदी में नहाना। छोटे वच्चे को गोदी में खिलाना, खासकर अपने वच्चे को गोदी

में खिलाना। शीशा देखना, इत्यादि।

तन की उच्छृङ्खलता पर हम इतना जोर क्यों दे रहे हैं। इसका एक कारण है। तन की उच्छृंखलता पर पूरा अधिकार प्राप्त हो जाने से मन बलवान हो जाता है। उसको एक खास तरह की शक्ति प्राप्त हो जाती है, तभी तो हमारे मां-बाप हमें पलंग पर बैठे पांव हिलाने से रोका करते थे। तिनके तोड़ने का काम बहुत बुरा माना गया है। ऐसी क्रियाओं को सगुन-असगुन से जोड़ना तो मूर्खता है, पर इसके सूक्ष्म भाव को विचार में न लाना भी बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।

तन की उच्छृङ्खलता कितने रूपों में प्रदर्शित हो सकती है, इसकी गिनती नहीं बताई जा सकती। न वैसा करना जरूरी है। हम तो इतना ही चाहते हैं कि हमारे पाठक इस उच्छृङ्खलता को अपने मन में बिठालें और इसपर नज़र रखें, क्योंकि आत्म-प्रेमी के लिए उसे पढ़ना आवश्यक है। आजादी का पथिक इस ज्ञान से अपने-आप अवगत हो जाता है।

आप जरूर इससे परिचित होंगे और इसे अपने काबू में रखते होंगे।

: ३ :

मन का संयम

मन की उच्छृङ्खलता किसीसे छिपी हुई नहीं। समुद्र में लहरें उठती हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि वे चन्द्रमा और सूरज के कारण उठती हैं। समुद्र में तूफान आते रहते हैं।

उसका कारण आंधी बताई जाती है। समुद्र में धाराएं बहती हैं, उसका कारण मौसम बताया जाता है। समुद्र में गर्त आते हैं, उसके बारे में वैज्ञानिकों का कहना है कि समुद्र-तल किसी खास जगह पर बहुत गर्म है। वहां पानी भस्म होता रहता है। इसीसे समुद्र में गर्त या भंवर पड़ते हैं। थोड़े शब्दों में, समुद्र की हर क्रिया का कोई कारण होता है। पर इस मन-रूपी समुद्र में जो लहरें उठती हैं और जो कभी आकाश को छूती हैं तो कभी पाताल को, उनका क्या कारण है, इसे कोई नहीं जान सकता। लेकिन मन में लहरें उठती हैं, इसे सब जानते हैं।

क्यों और किस तरह की झंझट में पड़े बिना, यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि मन को या चित्त को एकाग्र करने की भावना एकदम पुरानी है। आदमी को जिस दिन से अपने अस्तित्व का ज्ञान हुआ उसी दिन से वह यह कोशिश करता रहा है कि उसके मन की तरंगें उसके काबू में आ जायं। पर आजतक इस काम में सफल नहीं हो पाया।

कल्पना अर्थात् मन की उड़ान, यानी मन की उच्छृङ्खलता, यह उच्छृङ्खलता तो श्रेय और प्रेय मानी गई है। कवि लिए कल्पना निहायत जरूरी है। उच्छृङ्खल मन कवि का ... है। इसे कोई ठीक मानने को तैयार न होगा कि सारा ... उच्छृङ्खल मन की देन है। इसलिए उस सबको हमारा मोह ही है, जो सुरक्षित रखे हुए है, नहीं तो वह इस योग्य नहीं कि उसे सुरक्षित रखा जा सके।

इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस काव्य में कहीं-कहीं कुछ मूल्यवान भी है, पर उस मूल्यवान की उपलब्धि

के लिए हमें इसी तरह प्रयास करना पड़ेगा, जिस तरह स्वर्णरेत में से सोने की उपलब्धि के लिए किया जाता है। जब हम सुनते हैं कि रेत में से सोना निकाला गया तो सोचते हैं कि उससे कम खर्च से तो खान में से सोना निकाला जा सकता था। ठीक ऐसा ही हाल काव्य का है। उससे मूल्यवान पल्ले पड़ सकता है, पर उसके लिए जो परिश्रम करना पड़ेगा, वह उस प्राप्ति से कहीं ज्यादा मूल्यवान होगा।

पुराण इसी कल्पना की देन हैं। स्वामी दयानन्द ने बड़ी हिम्मत करके उन्हें त्याज्य बतलाया। उनकी कृपा से पुराण-पन्थ और पुराण-पन्थी पद गाली समझे जाने लगे, पर पुराण तो आज भी श्रद्धा की चीज बने हुए हैं। अप्रैल सन् १९६० में उत्तर प्रदेश की विधान-सभा में रामायण के पन्ने फटने को लेकर एक तूफान ही खड़ा हो गया और यह आवाज़ भी उठी कि ऐसा करने से कुछ लोगों की धर्मभावना को ठेस लगी है। "धर्मभावना को ठेस लगी है", इस पद को पाठक खास तौर से ध्यान में रखें। साथ-ही-साथ उस विधान-सभा में यह भी कहा गया कि रामायण में सचमुच पांच-छः पंक्तियां ऐसी हैं, जिन्हें रामायण में से निकाल बाहर करना चाहिए। लेकिन यह सब भी इस बात का प्रमाण नहीं कि मन की उच्छृङ्खलता समान रूप से हेय या त्याज्य मानी जाती है।

मन की उच्छृङ्खलता से बचना बड़ा कठिन है, क्योंकि हम बहुत-कुछ मन के कारण बने हुए हैं। लेकिन मन का यह भी तो पता नहीं कि वह देह के किस हिस्से में है। यह भी ठीक-ठीक पता नहीं कि मन और मस्तिष्क दो चीजें हैं। फारसी का शब्द दिल वह हृदय नहीं है, जो हमारी छाती में धड़कता रहता

है। यह वही मन है, जो मस्तिष्क से होड़ लेता है।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि मन सारे अंग में फैला हुआ है। तभी तो हमारे पांव जूतों को पहचान लेते हैं। अंधे की अंगुलियां स्पर्श से अपने-पराये का भेद कर लेती हैं। पैर की चाप से अपने-पराये को पहचान लेती हैं। इसलिए मजबूर होकर यह मानना पड़ता है कि मन देह के हर भाग में मौजूद है। अब रहा यह सवाल कि वह किस रूप से देह-व्यापी है। इसके उत्तर से हमें क्या लेना-देना! किसी भी रूप से सही, उसका सारी देह पर कब्जा है और पांचों इन्द्रियां उसके तावे में हैं। यानी आत्मा के बाद वही देह-रूपी राज्य का मालिक है।

ऐसे उच्छृङ्खल सर्वाधिकारी को आखिर रोके भी तो कौन रोके! बुद्धि के काबू में यह आता नहीं। आत्मा के काबू से यह बाहर है। शायद इसी कारण कवियों ने इससे दोस्ती की और एक ऐसी चीज खड़ी कर दी, जिसे बुद्धि ने शुरू-शुरू में मानने से इन्कार किया, पर अन्त में वह उसीके नशे में डूब गई, उसीका रसपान करने लगी। उच्छृङ्खलता-जन्य समस्त साहित्य का समर्थन करने लगी। अब वह साहित्य धर्म का अंग बन बैठा।

उच्छृङ्खल मन ने जो देवी-देवता तैयार किये या जो देवों का देव तैयार किया, वह कल्पित होते हुए भी वास्तविक से भी ज्यादा वास्तविक बन बैठा।

मन की उच्छृङ्खलता स्वयं आजादी बन बैठी, धर्म बन बैठी, जन्म-सिद्ध अधिकार बन बैठी। इसके लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाने लगीं। उच्छृङ्खलता को रोकना पाप समझा जाने लगा। अन्याय समझा जाने लगा। अधर्म समझा जाने लगा। अब कहिये, मन

की उच्छृङ्खलता पर कैसे काबू पाया जाय !

जिन-जिन अवास्तविकताओं के लिए हम इन्सान लड़ते हैं, वह सब हमारे मन की उच्छृङ्खलता होती है।

समय-समय पर इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई गई। कुछ दिनों जोश रहा, बहुत जोर का जोश रहा। पर जोश तो जोश ही है। सोडावाटर की बोतल के जोश की हँसी उड़ाई जाती है, क्योंकि वह क्षणिक होता है। और धार्मिक जोश ही कौन-सा स्थायी होता है ? उसका स्थायित्व बोतल के जोश से भले ही बढ़कर हो, पर अनन्त काल के सामने तो वह भी क्षणिक हो जाता है। इसलिए वैसा जोश भी हेय ही समझा जाना चाहिए।

मन की उच्छृङ्खलता किस-किस रूप में प्रकट होती है, उन रूपों का गिनाना बहुत मुश्किल है। कान द्वारा सुने हुए राग से मन उच्छृङ्खल हो उठता है, और सामाजिक नियमों के विरुद्ध क्रियाएं करने लगता है। यही परिणाम कभी नाटक या सिनेमा देखने पर होता है। सूंघने, चखने और छूने से भी मन उच्छृङ्खल हो उठता है और ऐसी क्रियाएं कर बैठता है कि जो रिवाज के खिलाफ होती हैं, नियम-विरुद्ध होती हैं। पर वह किसीकी परवा नहीं करता। ऐसा क्यों होता है, इसका भी कारण है।

जुए की क्रिया को ले लीजिये। जुआ कानून के अनुसार दण्डनीय कर्म है। पर दीवाली के रोज़ उसका खेलना उच्छृङ्खल मन ने धर्म करार दे दिया है। पाप धर्मभावना बन बैठा है। अगर कोई सरकार इस उच्छृङ्खलता को रोकने लगे तो वह धर्म-भावनाओं को ठेस पहुंचानेवाली समझी जायगी।

होली का हुल्लड़ हमारे मन की उच्छृंखलता का एक भयानक रूप है। फागुन और चैत के महीने में रंग की होली तो खेली ही जाती है, आदमी के खून की भी होली खेली जाती है। इस तरह के हुल्लड़ को भी सरकार रोकने लगे तो उसपर अंगुली उठाई जाती है। उसपर इल्जाम लगाया जाता है कि वह धार्मिक आजादी को धक्का पहुंचा रही है। हिन्दुस्तान की तरह इंगलिस्तान में भी वड़े दिन का त्यौहार, हिन्दुस्तान की होली की गन्दगी को मात दे देता है। इंगलिस्तान की तरह यूरोप और अमरीका के हर देश में उच्छृंखल मन के नमूने देखे जा सकते हैं। आखिर सारी दुनिया आदमियों से ही तो आवाद है और उनके तन का राजा मन है।

स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता एकदम भिन्न हैं। स्वतन्त्रता के कृत्य रचनात्मक होते हैं। स्वच्छन्दता के विनाशक। स्वच्छन्दता वर्ज्य मानी गई है, स्वतन्त्रता प्राप्तव्य। स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता में मां-वेटी का सम्बन्ध है। स्वच्छन्द मन भी उच्छृंखल होता है। स्वच्छन्दता भावात्मक है। उच्छृङ्खलता उसीकी क्रियाएं हैं। मतलब यह कि स्वतन्त्र मन की क्रियाएं शृंखला-वद्ध होती हैं। इसके विपरीत स्वच्छन्द मन की क्रियाएं विशृंखल होती हैं। विशृंखल और उच्छृङ्खल लगभग एकार्थ-वाची हैं।

स्वतन्त्र मनुष्य जो क्रियाएं करता है, उनके द्वारा दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होता। न दूसरों की स्वतंत्रता में वाधा पड़ती है। स्वच्छन्द मन की क्रियाएं दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण करती हैं। दूसरों की स्वतंत्रता में वाधक सिद्ध होती हैं। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में यही अन्तर है।

पशु-जगत आमतौर से स्वच्छन्द होता है। स्वतंत्रता नाम की वस्तु पशु-जगत में देखने को भी नहीं मिल सकती। यही कारण है कि पशुओं से मनुष्यों को सदा सचेत रहना पड़ता है।

जितने अंशों में मनुष्य स्वच्छन्द है, उतने अंशों में उससे मनुष्यों को तो हानि पहुंचती ही है, पशु और पक्षियों का भी विनाश होता रहता है।

आजाद मनुष्य और आत्म-प्रेमी का यह धर्म हो जाता है कि वह स्वच्छन्द मन की उच्छृङ्खलता पर पूरा ध्यान रखे। मन कैसे साधा जाता है, किस तरह उसकी स्वच्छन्दता स्वतंत्रता में बदली जाती है, इसपर आगे कहीं लिखा जायगा।

समझ लिया न, मन मर्कट होता है। आजाद व्यक्ति को उसे काबू में लाना ही होगा।

: ४ :

माया पर विजय

हिन्दी का शब्द माया कई अर्थों में आता है। पर हमें यहां माया का अर्थ 'धोखा' ही अभीष्ट है। मक्कारी, फरेब, कपट, ठगी इत्यादि सभी धोखे में शामिल हैं। माया ऐसी बला है, जिससे बचना आदमी के लिए बहुत मुश्किल है। माया ऐसा ऐब है, जिसके कई रूप कानून की पकड़ से बाहर हैं और जिसके अनेक रूप धर्म के अंग बन बैठे हैं। अब कहिये, इस बला से कैसे बचा जाय?

कुछ लोग जो यह कह गये कि यह जगत माया-जाल है, तो यह समझिये कि यह उनके अन्तस्तल से निकली हुई बात है। सचमुच जगत का सारा पसारा माया है, धोखा है, भ्रम है। पर ऐसा कह डालने से तो आजादी हाथ नहीं आ सकती। आत्म-प्रेमी और आजाद बनकर इस माया-जाल में भी इसके नुकसानों से अछूता रहा जा सकता है।

माया के रूप बेहद लुभावने तो हैं ही, पर एक उनमें और भी भारी ऐब है। वे उस समय हमारे सामने आते हैं, जब हमारी यह हालत हो रही होती है कि हम उनके बिना जीवित ही नहीं रह सकते। फिर उनसे बचकर भागने की कैसे सोच सकते हैं ? मृग-मरीचिका अर्थात् छलावे की बात किसने नहीं सुनी। मृग यानी हिरन प्यास से तड़प रहा है। सामने उसे पानी का तालाब लहराता हुआ दिखाई देता है। अब कहिये, वह हिरन उससे बचकर भागने की कैसे सोच सकता है ? वह तो उधर दौड़ेगा ही। तालाब उसे मिलेगा नहीं और वह तड़प-तड़पकर प्राण दे देगा। जेठ में जब लू चलती हैं तो गर्म हवाएं और धूप मिलकर इसी तरह का धोखे से भरा तालाब रच देती हैं। इसीका नाम है मृग-मरीचिका।

समाज के विरुद्ध एक आदमी से जाने-अनजाने कोई पाप बन पड़ा है। वह बेहद दुखी है। वह पाप को धो डालने के लिए तड़प रहा है। वह धर्म-रूपी पानी की तलाश में है। मृगमरीचिका के रूप में उसे मन्दिर, मस्जिद, गिरजा कोई दीख जाता है। वह देखता है कि उसमें से अनेक आदमी यह कहकर निकल रहे हैं कि उनके पाप धुल गये। अब कहिये, वह इस जाल-जंजाल से बचकर कैसे भागे ? वह उधर दौड़ेगा

ही, और वहां जब उसे धर्म-जल की जगह पापाग्नि दिखलाई देगी तो तड़पकर मर जाने के सिवा उसके पास और रह ही क्या जायगा ! भजन, पूजन, कीर्तन माया के रूप हैं। बेहद लुभावने रूप हैं। धर्म सदेह बन बैठे हैं। यही कारण है कि इनकी तरफ घबराया हुआ मनुष्य दौड़ता है। यह समझने के लिए उसे अवसर ही नहीं रह जाता कि अगर ये मन्दिर, मस्जिद धर्म की प्यास मिटानेवाले तालाब होते या पाप धोने के जलाशय होते तो क्यों ऋषि-मुनि इन्हें छोड़ कन्दराओं में निवास करते ! और क्यों कबीर जैसे सन्त यह कह जाते कि काबे और काशी में कुछ नहीं धरा। और क्यों मुसलमान फकीर यह कह जाते, "दिला तवाफे दिलाँ हुन, कि काबये मखफ़ीस्त।" अर्थात् ए दिल, दिलों की परिक्रमा कर, क्योंकि काबा दिल के अन्दर ही छिपा हुआ है। इसीके अगले चरण में उसने अपने ढंग से यह भी कह दिया "आं ख़लील बिना कर्द व ई ख़ुदा ख़ुद साख़्त।" यानी काबे को तो ख़लील नामक सन्त ने बनाया, पर दिल के काबे को तो ख़ुदा ने ख़ुद बनाया है। क्या बुजुर्गों के ये अनुभव इन धर्म-तीर्थों को माया सिद्ध नहीं कर रहे ? पर जिस तरह प्यासा हिरन किसीकी नहीं सुनता, वैसे ही प्यासा मनुष्य किसीकी सीख पर ध्यान देने को तैयार नहीं होगा।

मन्दिरों और तीर्थों के रूप में ही माया का जाल नहीं फैला हुआ है। न जाने किस-किस रूप में इसने सब जगह अपने पांव जमा रखे हैं। कहीं ये गेरुए कपड़ों के रूप में अपनी शान जमाये हुए हैं तो कहीं एकदम वस्त्रहीन नग्न के रूप में मौजूद हैं। कहीं जटाजूट है तो कहीं घुटी खोपड़ी है। ऐसे

अनगिनत धार्मिक रूप इसने बना रखे हैं। यह माया बहुरूपिणी है, पर हरेक को यह एकरूपा दिखलाई देती है। इसने धर्म के मैदान में ही जाल नहीं बिछा रखा, राज-काजी मैदान में भी यह अपनी ठग-विद्या फैलाती रहती है। कहीं लाल कुर्ती है तो कहीं नीली वर्दी। कहीं काली टोपी है तो कहीं सफेद टोपी। कोई मुकुट-धारी है तो कोई बिल्लाधारी। मतलब यह कि किसी क्षेत्र को इसने नहीं छोड़ा। धर्म के नाम पर जाने किन-किन चीजों को पूजा का स्थान मिल गया है। शृंगार रस से भरे गीत प्रातःकालीन धर्म-गान बन बैठे हैं। आदमी को भगवान बनाकर एक मामूली स्त्री के साथ नचाना धर्म-लीला के नाम से पुकारा जाता है, और इन सबको पाप धोने का धर्म-जलाशय बतलाया जाता है! धर्म की प्यास मिटाने का स्वच्छ निर्मल पानी का चश्मा बतलाया जाता है। अब कहिये, आज़ादी का भूखा पुरुष, आत्मा का खोजी व्यक्ति, करे तो क्या करे ? वह इन भ्रमजालों में भटके बिना कैसे रह सकता है ?

यह माया भी चार तरह की होती है। एक वह जिसे मनुष्य धर्म ही मान बैठता है। इसीको आत्मोद्धार का साधन समझता है, जबकि ये सब उसे आपाद और आजन्म दास बनाये रखने के साधन हैं। इनमें फंसकर वह कभी अन्तर्मुख हो ही नहीं पाता। न आत्म-श्रद्धान होता है, न आत्म-ज्ञान। फिर आत्म-प्रेम की तो बात ही क्या! आज़ादी उसकी ओर आंख उठाकर नहीं देखती। यह हम आलंकारिक भाषा में कह रहे हैं। आज़ादी कोई अलग चीज़ नहीं। वह दृष्टि डालनेवाली कौन ? शुद्ध भाषा यह है कि इस जाल में फंसा हुआ व्यक्ति

दासता में निमग्न रहता है और अपनी आज़ादी की कभी नहीं सोचता।

माया का दूसरा रूप वही है, जो व्यक्ति को पागल बना देता है। किसके प्रति उसका क्या कर्तव्य है, यह वह भूल जाता है। सामाजिक नियम तोड़ डालता है और ऐसी उच्छृङ्खलता को धर्म समझने लगता है। पुराण ऐसी उच्छृङ्खल कथाओं से परिपूर्ण हैं। पत्थर की मूरत से प्रेम का दावा करके पत्नी पति को छोड़कर भागती है। बेटा बाप को धता बतलाता है। भाई-भाई से अलग हो जाता है। बेटा मां का गला काट डालता है। शिष्य गुरु के प्राण ले लेता है। और यह सब होता है सिर्फ काल्पनिक धर्म पूरा करने के लिए। ऐसा करके व्यक्ति समझता है कि उसे मुक्ति प्राप्त हो गई। उसे मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं, समाज उसे मुक्त पुरुष मानता ही रहता है।

माया के इस दूसरे रूप में पागल और सर्वथा भ्रष्ट चरित्र-वाले पूज्य बन बैठते हैं। ये सब वे ही होते हैं, जो समाज के सब शिष्ट नियमों को तोड़कर फेंक चुके होते हैं। इस दूसरे रूप में कर्त्तव्य-ज्ञान नाममात्र को भी नहीं रह जाता। उच्छृङ्खलता आत्म-घात पर तो उतारू नहीं होती, पर माया की पूजा में फंसकर वास्तविक को माया समझने लगती है। गुरु ज़ार है, शराबी है, मांसाहारी है, पर गुरु है। उसकी खातिर जन्म देनेवाले पिता, नौ महीने पेट में रखनेवाली माता, बरसों गोद खिलानेवाली बहन और उमर-भर की परवरिश का ठेका लेनेवाला भरतार, इन सबको धता बतलाई जा सकती है। इस तरह के उच्छृङ्खल उन पुस्तकों में नाम छोड़ जाते हैं, जिनको लाखों-करोड़ों सीस नवाते हैं।

कहिये, क्या अब भी आपकी हिम्मत हो सकती है कि इस प्यारी मीठी दासता को छोड़कर आज़ादी की बात को सोचें ? इस मिथ्यात्व से प्रेम हटाकर आप उस प्रेम में लगें ? जिस घोड़े को थान पर बंधे-बंधे घास मिल जाती है, तोवड़े में ही सही, दाना मिल जाता हो, दिन में तीन-तीन बार स्वच्छ जल मिल जाता हो, वह कभी जंगल की आज़ादी की बात सोच सकता है ? कभी उसके लिए तैयार हो सकता है ? वह तो मरीचिका को सत्य और सत्य को मरीचिका समझे हुए है। यही हाल मनुष्य का है। वह क्रिया-काण्ड और धर्म के आडम्बरों को धर्म माने हुए है। खोटे देवता, खोटे ग्रंथों और खोटे गुरुओं को पूज्य समझे हुए है। और सत्य धर्म को, प्राकृतिक शक्ति-रूपी देवताओं, को प्राकृतिक रहस्य-ग्रन्थों को और प्राकृतिक गुरुओं को, जो उसे कभी धोखा नहीं दे सकते, मानने को तैयार नहीं। आज़ादी उसके हाथ कैसे लग सकती है ? आत्मा से प्रेम उसे कैसे हो सकता है ?

माया के तीसरे रूप में व्यक्ति का अजब हाल हो जाता है। वह माया-जाल से निकल चुका होता है। पर जिस तरह बरसों पिंजड़े में रहा हुआ तोता पिंजड़ा छोड़ते हुए झिझकता है, वैसे ही वह भी माया-जाल से बचकर भागने की हिम्मत नहीं कर पाता। बस, उसे यह समझिये कि वह पिंजड़े की खिड़की से बाहर निकलकर पिंजड़े पर बैठे तोते के समान है। वह एक कथा का वह व्यक्ति है, जो कहता था कि मैंने तो कमली छोड़ रखी है, पर कमली मुझे नहीं छोड़ रही है। ऐसा आदमी अबेर-सबेर आज़ाद होकर रहता है। एक तरह उसे सोया हुआ समझिये। आंख खुली की वह आज़ाद हुआ।

माया का चौथा रूप हमें जीवित रखने के लिए अत्यावश्यक है। उसे छोड़ने की कोशिश करना आत्महत्या करना है। उतने कपट को छोड़ना अधर्म होगा। उतनी माया इस संसार में बने रहने के लिए बहुत ही आवश्यक है। हमारी देह माया के सिवा कुछ नहीं, पर उसके बिना आत्मा भी कुछ नहीं। देह के बिना न हम कुछ हैं, न समाज कुछ। न फिर धर्म है, न जीवन। देह को बनाये रखने के लिए अनेक छल-कपट की आवश्यकता होती है। पर उसके लिए आज़ाद आत्मप्रेमी को कोई प्रयास नहीं करना होता। ठण्डे मुल्क में शरीर बिना प्रयास के गोरा हो जाता है, बाल सुनहरे हो जाते हैं। गर्म देश में आपोंआप शरीर भूरा होने लगता है, काला हो जाता है। कहीं यह शरीर पीला हो जाता है और कहीं लाल। यह सब प्राकृतिक माया है। यह एक तरह का कपट है, पर यह अत्यावश्यक है। इस सबसे आज़ाद व्यक्ति के मन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कोई भेद नहीं जागता। उसे अच्छी तरह मालूम है कि एक ही पशु भिन्न-भिन्न देश में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के मातहत, भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। इसलिए उसका इस तरह का कपट या माया उसकी आज़ादी को हानि नहीं पहुंचाता।

आप आजाद हैं, आत्म-प्रेमी हैं, तो अपनेको परख लीजिये, आप सचमुच माया में फंसे-हुए भी अपने-आपको माया से अलिप्त पायंगे।

: ५ :

लोभ को छोड़ो

लोभ सब उच्छृङ्खलताओं की जड़ है। सब बुराइयों का बाप है। यही एक ऐसा अवगुण है, जो दासता की ओर इस तरह खिचता है, जैसे लोहा चुम्बक की ओर। लोभ कोई एक रूप में प्रदर्शित नहीं होता। क्रोध, मान, माया तीनों ही की जड़ में लोभ विद्यमान रह सकता है।

लोभ शब्द का आम अर्थ लालच समझा जाता है। यह अर्थ है तो ठीक, पर अपूर्ण है। कंजूस आदमी को भी लोग लोभी कह बैठते हैं। लोभ का मतलब होता है, सांसारिक सुख के साधनों से सतत् प्यार। लोभी की सभी इद्रियां सदा जवान बनी रहती हैं। लोभी की इन्द्रियों को बुढ़ापा नहीं आता। इतनी ही बात नहीं, बुढ़ापे में लोभी की इन्द्रियां युवा से युवातर हो जाती हैं। बुढ़ापे का यही तो यौवन है।

पशु-पक्षियों, कीट-पतंग सभीमें लोभ पूरी तरह जागा हुआ होता है। अगर उनको आदमी जैसा मस्तिष्क मिला होता तो उनमें से किसी एक जाति ने ही मनुष्य को भूतल से नेस्तनाबूद कर दिया होता। आदमी कहीं देखने को भी न मिलता। अब यह आदमी के हाथ में है कि अगर वह चाहे तो किसी भी जाति का सर्वनाश कर सकता है। इतना ही नहीं, लोभ की प्रेरणा से मनुष्य मनुष्य-जाति के सर्वनाश पर उतारू हो सकता है।

लोभ में सबसे बड़ी बुराई यह है कि वह तृष्णा को भड़का

देता है। तृष्णा आग की ज्वाला बन बैठती है। क्या दुनिया का कोई इंजीनियर इस बात का तखमीना बता सकता है कि एक प्रज्वलित अग्नि देवी का पेट कितने ईंधन से भर सकता है?

तृष्णा, जो लोभ की ही बेटी है, कभी अपनी भूख नहीं मिटा पाई। जब भी यह भूख मिटाने बैठती है तभी वह दुगुनी-तिगुनी बढ़ती जाती है। अनुभवी लोगों का कहना है कि जब इसे भूख लगे तो इसे कुछ भी खाने को न दो। तब और, तब ही, इसकी भूख कम हो सकती है। अगर मिट नहीं सकती तो इतनी कम ज़रूर हो सकती है कि वह न आज़ाद रहने में बाधक हो सकती है, न आत्म-प्रेम को रोक सकती है।

लोभी पुरुष का अजब हाल हो जाता है। सभी राजा लोभ की देन हैं। जिसे महत्वाकांक्षा कहा गया है, वह लोभ के वृक्ष की एक शाखा है। एक लालची राजा की कहानी यों सुनाई गई है :

एक राजा था। वह बेहद महत्वाकांक्षी था। एक दिन उसे क्या सूझा कि उसने सागर पर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई का बहाना यह था कि वह पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग घेरे हुए है और एक कौड़ी कर नहीं देता। यह विचार मन में आना था कि उसने सागर पर गोलाबारी आरम्भ कर दी। कुछ पखवाड़ों की गोलाबारी के बाद सागर-देवता प्रकट हुए। उन्होंने गोलाबारी का कारण पूछा। राजा ने बंधा-बंधाया कारण बता दिया, "तुम तीन-चौथाई धरती घेरे बैठे हो और कर एक कौड़ी नहीं देते। फौरन कर दो, नहीं तो तुम समूल नष्ट कर दिये जाओगे।" सागर-देवता राजा की यह बात सुनकर मुस्कराये और अन्तर्धान हो गये। दूसरे ही क्षण सागर की एक ऊंची

लहर आई और सारा सागर-तट हीरे-जवाहरात और मोतियों से अट गया।

राजा यह देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा के दरबारी, उसकी फौजें सभी आनन्द से फूल उठीं, क्योंकि राजा ने हुकुम दे दिया कि जिससे जितना उठाया जाय, उठा ले जाओ। पर ऐसा करने पर भी उस माया के ढेर का हजारवां हिस्सा भी खत्म न हो सका। राजा का लालच भड़का। वह दुखी हो उठा। उसने फिर तोपें दागने का हुकुम दे दिया। पखवाड़ों की गोलाबारी के बाद सागर-देवता फिर प्रकट हुए। राजा से बोले, "अब क्या चाहिए ?" राजा बोला, "इसको लादकर घर ले जाने के लिए सवारी चाहिए।" यह सुनकर देवता अर्न्तधान हो गये।

दूसरे ही क्षण सागर की एक छोटी-सी लहर आई और लम्बे प्याले के आकार की आदमी की एक खोपड़ी छोड़ गई। राजा पहले तो बहुत बिगड़ा, पर किसी तरह मन को काबू में करके उसने अपने सेनापति को हुकुम दिया कि इस खोपड़ी के प्याले में खजाना भरो। सेनापति यह हुकुम सुनकर मुस्कराया। पर हुकुम सुनकर ज्योंही उसने वे जवाहरात खोपड़ी में डालने शुरू किये कि उसने देखा, वे सब उसमें समाते चले जा रहे हैं और खोपड़ी का वह प्याला है कि भर ही नहीं पा रहा है! राजा को बड़ा अचरज हुआ। वह कुछ न समझ पाया। जब सेना की मदद से सारा खजाना खोपड़ी के प्याले में भर दिया गया और खोपड़ी गाड़ी में लादी जाने को थी कि राजा ने वैसा करने से रोक दिया और फिर से गोलाबारी का हुकुम दे दिया। अबकी बार जल-देवता तुरन्त प्रकट हो गये और

नाराज होकर बोले, "राजन्, तुम बार-बार हमें क्यों हैरान करते हो ? अब तुम्हें और क्या चाहिए ?" राजा विनम्र होकर बोला, "चाहिए कुछ नहीं । बस यह ज्ञान चाहिए कि यह खोपड़ी किसकी है और किस चीज की बनी हुई है ?" जल-देवता खिलखिलाकर हँस पड़े और राजा के सिर पर इस तरह हाथ फेरते हुए, जैसे कोई बाप अपने बेटे के सिर पर फेरता है, बड़े प्यार से मीठे शब्दों में बोले, "राजन्, यह आदमी की खोपड़ी है । लोभ, लालच के मसाले से तैयार की गई है ।"

क्षण-भर के लिए राजा को आत्म-ज्ञान प्राप्त हुआ । इससे उसे अनुपम आनन्द मिला । पर दूसरे ही क्षण वह फिर लोभ के गर्त में जा गिरा ।

यह समझना भूल है कि केवल धन का ही लोभ या लालच होता है । इससे कहीं बढ़कर प्रसिद्धि और नामवरी का लालच होता है । जो पदवियां यूनिवर्सिटियों से प्राप्त होती हैं, उनका एक नाम है उपाधि और 'उपाधि' शब्द का दूसरा अर्थ है, आफत, बला । इसलिए प्रसिद्धि की बला एक बला ही है । पर लोभ उस बला में फंसकर बेहद सुख मानता है । श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम प्राणी में भी यह इच्छा रहती है । आदमी चाहे कितनी ही बड़ी उम्र का क्यों न हो जाय, नाम कमाने की बीमारी से कभी बच नहीं सकता । वर्चस्व की भावना लोभ-लालच की ही देन है । स्वामी राम एक मशहूर संन्यासी हो गये हैं । वह अकिंचन व्रतधारी थे । पंजाब यूनिवर्सिटी से उन्होंने गणित में एम. ए. किया था और यूनिवर्सिटी का रिकार्ड तोड़ा था, यानी कोई उनसे आगे नहीं बढ़ पाया था । वह कुछ दिनों तक प्रोफेसर भी

रहे। धर्म-प्रचार के लिए अमरीका गये। अमरीकावालों ने उन्हें अपनी यूनिवर्सिटी की उपाधि देनी चाही, पर उन्होंने यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि भारत की एक यूनिवर्सिटी के कलंक का टीका मेरे माथे पर पहले ही लगा हुआ है। अब आप और लगाकर क्या करेंगे। ऐसे वाक्य हमारे-तुम्हारे जैसे के मुंह से नहीं निकल सकते। विरले ही आज़ाद व्यक्ति के मुंह की ऐसे वाक्य शोभा बढ़ा सकते हैं। अब आप समझ गये होंगे कि धन से भी ज्यादा चाह लोभी को होती है, नामवरी और प्रसिद्धि की।

धन और प्रसिद्धि आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। पर इन दो से भी लोभी को सन्तोष नहीं होता। यह पाकर अधिकार (सत्ता) की भूख और तेज हो उठती है। राजा बनने की सूझती है, दिग्विजय की सूझती है। और न जाने क्या-क्या सूझती है। लोभ की खोपड़ी की थाह किसीको कभी मिल ही नहीं पाई। इस तलफटी बावड़ी की थाह अगर कोई ले आये तो इसे चमत्कार ही समझना चाहिए। आइंस्टीन नाम का एक विज्ञानी हो गया है। वह प्रसिद्ध तो खूब था। चोटी का विज्ञानी माना जाता था। एटम बम और हाईड्रोजन बम उसीके मस्तिष्क की सूझ हैं। इसीसे उसकी प्रसिद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। अमरीका-वासी होने से उसे धनाढ्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अमरीका के धन-पतियों के सामने वह कुछ भी नहीं था। यह व्यक्ति न जाने कैसे एक महान् अधिकार को ठुकराने में समर्थ हो सका। इसे इसराइल देश के सभापति बनने का निमन्त्रण दिया गया, पर इसने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि

मेरा क्षेत्र विज्ञान है। मुझे राजनैतिक क्षेत्र से क्या लेना-देना। यह वाक्य उसीके मुंह से शोभा देते हैं, नहीं तो आज क्या डाक्टर, क्या दार्शनिक, क्या धर्मगुरु, क्या रसूल-नबी, सभी तो राजा बनने के भूखे रहते हैं।

अब पाठकों ने भली-भांति समझ लिया होगा कि यह लोभ कितने ऊंचे दर्जे की उच्छृङ्खल चीज है। कैसे-कैसे जाल फैलाते हैं। एक कवि का एक चरण याद आ जाता है—

"मुर्ग़े दिल क्यों न फंसे, दाना भी हो दाम भी हो।"

लोभ और कल्पना, जब ये दोनों बैठ जाते हैं, तब न जाने कितनी दुनिया गढ़ डालते हैं। कल्पना दुनिया गढ़ती है और लोभी मन उसे जीतता है और यह सिलसिला चल पड़ता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब लोभ और कल्पना ने मिलकर तैयार किये हैं। ऐसी-ऐसी कहानियां गढ़ी हैं कि इन सबको महान् बनाकर कभी किसी नारी के हाथ की कठपुतली बना दिया है और कभी नर की। राम को अधिकार के पहाड़ पर चढ़ा दिया और फिर शबरी के झूठे बेर खिला दिये। यही हाल कृष्ण का किया। एक भील के तीर का शिकार बना दिया। सर्व-शक्तिशाली भगवान को वामन बनाकर बलि के यहां भीख मंगवा दी। मानो बलि को नष्ट करने के लिए सर्वशक्तिमान के पास कोई उपाय ही नहीं रह गया था। कल्पनादेवी ने स्वर्ग तैयार किये। लोभी मन ने तपस्या शुरू कर दी। फिर या तो स्वर्ग पहुंच गया, नहीं तो स्वर्ग के देवताओं को अपनी सेवा में बुला लिया। कल्पना देवताओं की प्रगति से खुश न हुई। झट उसने भू-तल पर ऋषि, मुनि और तीर्थंकर तैयार कर दिये। स्वर्ग के देवता अपना बड़प्पन भूल

आदमी बनने को सोचने लगे। क्यों ? क्योंकि आदमी होकर वे सर्वज्ञ बन सकते थे। सिद्ध हो सकते थे। सर्वशक्तिमान हो सकते थे। परम सुखी हो सकते थे। अनन्तकाल तक अनन्त सुख भोग सकते थे। चालीस-पचास बरस की तपस्या में यदि अनन्त सुख मिलता हो तो कौन मूर्ख होगा, जो इस सौदे के लिए तैयार नहीं हो जायगा। और फिर देवताओं के मुंह में तो पानी कैसे नहीं आयगा।

मतलब यह है कि भूत-प्रेत, देवी-देवता, यहांतक कि सृष्टि का रचयिता सब लोभ और कल्पना की सूझ के फल हैं। अब पाठक सोच लें कि दासत्व की बेड़ियां काटना कितना कठिन कार्य है। कल्पना-कबूतरी को पकड़ना और मन की उड़ान को रोकना कितना कठिन कार्य है। लोभी की उच्छृङ्खलता सब उच्छृङ्खलताओं से कठिनतम मानी गई है। पर आत्मप्रेम ऐसी चीज है, जिसके आगे इसकी कठिनाई अपने-आप पिघल जाती है। आजादी का दृढ़ विश्वास, आजादी का सम्यक ज्ञान और आज़ाद व्यक्ति का आत्मप्रेम, इनके आगे कोई भी चीज कठिन नहीं है।

क्रोध, मान, माया की तरह लोभ के भी चार दर्जे हैं। पहले दर्जे में मनुष्य को सारा जगत लोभमय दिखाई देता है। जिसे जड़वाद कहते हैं, वह इसी अवस्था में अपने पूरे रंग पर होता है। जड़वाद बुरी चीज़ नहीं। जड़ज्ञान बड़े काम की चीज है। बुरी बात तो है जगत के सब पदार्थों को जड़मय समझना। जड़ और चेतन, जड़ और आत्मा, इन दो का भेद न मानिये, पर यह तो कहिये कि यह ज्ञान-गुण किसके सिर थोपा जायगा। अगर जड़ज्ञानी भी है, तो भी कोई हर्ज नहीं। ज्ञान आज़ादी

चाहेगा, क्योंकि आज़ादी ही सुख है। और फिर जड़ भी अनुकूल और प्रतिकूल वेदना का अनुभव करने लगेगा। अगर इस तरह के ज्ञान से किसीकी तसल्ली होती है तो इससे हमारा कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। हम जिस जड़वाद से पाठकों को बचाना चाहते हैं, यह है वह जड़वाद, जो जगत को ज्ञान-शून्य समझता है, अथवा वह ज्ञानी, जो चेतन या आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता। न करे। फिर वह दासता के बंधन से नहीं निकल सकता। जड़ दासता से घबराता ही नहीं, वह आजादी की कद्र ही नहीं जानता। आज़ाद होने की सोचता ही नहीं।

मनुष्य की एक अवस्था ऐसी होती है, जब उसका ज्ञान इतना कम होता है कि उसे अज्ञानी की संज्ञा दी जा सकती है। अज्ञानी होना बुरा नहीं। यह ज्ञानी बनने की एक मंजिल है। दासता भी बुरी नहीं, क्योंकि वह आज़ादी की चाह उत्पन्न करती है। बुरी बात तो यह है कि एक आदमी अज्ञानी है और कहता है कि मैं अज्ञानी नहीं हूं। तब बताइये, उसका उद्धार कैसे हो? एक आदमी दास है, पर वह यह मानकर नहीं देता कि वह दास है। अब कहिये, वह कैसे आज़ाद हो सकता है! लोभ का यही पहला दर्जा है। इस दर्जे में पड़े हुए जान पर खेल जाते हैं। जान पर खेल जाना बहादुरी नहीं होता, नहीं तो सारे कीट-पतंग, पशु-पक्षी और वे नर-नारी भी, जो किसी तरह के लोभ में आकर आत्म-हत्या कर लेते हैं, बहादुर समझे जायंगे। आत्म-हत्या अगर बहादुरी होती तो वह कानून में दण्डनीय क्यों समझी जाती? इसलिए जड़वाद सर्वथा त्याज्य है। ऐसा ही जड़वाद बुरा समझा गया है।

इसमें शक नहीं कि हमारा देह जड़ है और इस जड़ के बिना आत्मा एक क्षण नहीं रह सकता। यह भी ठीक है कि अन्दर-बाहर हम जड़-ही-जड़ हैं। जो हममें चेतन या आत्मा है वह अदृश्य तो है ही, ऐसा विषय भी नहीं है, जिसे मन या मस्तिष्क आत्मा की मदद के बिना कुछ भी समझ सके। आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है। दीपक प्रकाशित होकर और पदार्थों को ही प्रकाशित नहीं करता, अपनेको भी प्रकाशित करता है। अंधेरे को अंधेरा दिखाई देता है। हमारी राय तो यह है कि अंधेरे को अंधेरा दिखाई नहीं देता और अगर दिखाई ही देता है तो प्रकाशमय दिखाई देता होगा, क्योंकि दीपक के नीचे छिपा हुआ अंधेरा प्रकाश देखकर अपने और प्रकाश के बीच में अन्तर समझ लेता होगा। ठीक यही हाल जड़ देह का है। मन और मस्तिष्क सर्वथा जड़ हैं, पर चेतन के साथ मिलकर वे अन्तर करना सीख लेते हैं। आत्मा तो न बोल सकता है, न सूंघ, सुन या देख सकता है। वह तो विचार भी नहीं कर सकता। इसलिए यह फैसला कि जड़ जड़ है और चेतन चेतन है, बुद्धि की देन है, और बुद्धि जड़ है। पर यह बुद्धि जड़ बगैर चेतन के शायद बोल ले, पर तोते की तरह। या उससे भी बुरी तरह, पर समझ-बूझकर नहीं।

लोभ का दूसरा दर्जा वह है, जहां वह जान देने की उच्छृङ्खलता छोड़ चुका होता है। अब वह जान देता नहीं है, वह तो अपनी और अपनों की रक्षा करता है और इस कोशिश में जान गंवा बैठता है। यह मूर्खता है और नहीं भी है। उच्छृङ्खल होकर ऐसे श्रेष्ठ काम कर डालना मूर्खता है। स्वतन्त्र और आज़ाद होकर ऐसा ही श्रेष्ठ काम करना बुद्धि-

मत्ता है, लेकिन चाहे वह मूर्खता करे या बुद्धिमत्ता, वह शहीद समझा जायगा, क्योंकि वह उतना अज्ञानी नहीं रहा कि भले-बुरे में अन्तर ही न कर सके। लोभ के पहले दर्जे की अवस्था से वह अब ऊंचा उठ चुका होता है। फिर भी उसमें यह कमी बनी ही रहती है कि उसे कर्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हो पाता। पागल आदमी अगर अपनी मां को मां कहे तो यह कथन पागलपन-रहित है, पर यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि वह सोच-समझकर मां को मां कह रहा है। लोभ के इस दूसरे दर्जे में जो सत्कर्तव्य आदमी से बन पड़ते हैं, उनकी गिनती सत्कर्तव्यों में नहीं की जा सकती, क्योंकि वे काम कर्तव्यवश किये गए नहीं होते, लोभवश किये गए होते हैं। छोटे बच्चे मिठाई के लालच में अगर मां की सेवा करें तो सेवक नहीं समझे जायंगे। इसी तरह बड़े आदमी लोभवश जो कार्य करते हैं, वे सेवक नहीं समझे जा सकते। समाज उन्हें वैसा समझ ले तो इससे उनकी अपनी तसल्ली नहीं होनी चाहिए। ऐसी भूल करने से आज़ादी के पथ पर वे अटके रह जायंगे, आगे नहीं बढ़ पायंगे।

लोभ-लालच में डूबे हुए कर्तव्य-परायण पुरुषों से इतिहास भरा पड़ा है। लोभ से बड़े-बड़े कर्तव्यों का पालन हो सकता है। स्वर्ग-मोक्ष की खातिर जब तपस्या की जा सकती है तो क्या राज्य की खातिर गुरुजनों की सेवा नहीं की जा सकती। लेकिन इस तरह किया हुआ कर्तव्य-पालन आज़ाद व्यक्ति का लक्षण नहीं, आत्म-प्रेमी की पहचान नहीं। लोभ की कमी ही कर्तव्य-परायणता की पहचान है। कर्तव्य-परायण इससे नहीं पहचाना जाता कि वह माता-पिता और अन्य गुरुजनों

के साथ शिष्टतापूर्वक वर्ताव करता है या नहीं ? किन्तु इससे पहचाना जाता है कि उसने अपने लोभ-लालच को कहांतक जीत लिया है। उसने अपने ममत्व को कितना काबू में कर लिया है, क्योंकि यही वह गुण है, जो आजादी के पथ पर व्यक्ति की चाल तेज करता है और उसे आगे बढ़ाता है।

इतिहास ने अशोक को महान् कह डाला है। हो सकता है, वह लोभ के दूसरे दर्जे को पार कर तीसरे दर्जे में पहुंच गया हो। पर जहांतक हमारा इतिहास का अध्ययन है, वहां-तक हम उसे महानता की कसौटी पर पूरा उतरता हुआ नहीं पाते।

अशोक का बाबा चन्द्रगुप्त महावीर के उपदेशों से प्रभा-वित था। हो सकता है, उन दिनों जैन धर्म के नाम से कोई संगठन न रहा हो, पर महावीर का अनुयायी होने के नाते चन्द्रगुप्त को जैन ही मानना पड़ेगा। जैन पुराणों में चन्द्रगुप्त का जिक्र है।

जैन धर्म और धर्मों की अपेक्षा पूर्ण अहिंसावादी है। आज उसके अनुयायी पच्चीस लाख के करीब हैं। वे प्रायः सभी शराब-मांस से बचे हुए हैं। इसलिए यह मानने में किसीको इन्कार नहीं होना चाहिए कि चन्द्रगुप्त का बेटा बिन्दुसार अगर निरामिष-भोजी न भी रहा हो तो कुछ दिनों जरूर मांस से परहेज करता रहा होगा और सीधे जीव-हत्या से तो जरूर बचता होगा। हज़रत मोहम्मद तक ने अपने जीवन में कभी किसी जीव की हत्या नहीं की। वह सेनापति जरूर रहे, पर कभी तलवार तक म्यान से नहीं निकाली। तब बिन्दुसार

से ऐसी आशा करना कोई बहुत बड़ी आशा नहीं है।

अशोक इसी बिन्दुसार का बेटा था। इसलिए उसे जैन मानने में झिझक नहीं होनी चाहिए। अब जैन होते हुए भी वह कलिंग पर चढ़ाई कर देता है। लाखों को मौत के घाट उतार देता है। यह किस कर्तव्य-परायणता में शामिल है? इतना ही नहीं, राजगद्दी पाने के लिए वह जितने जुल्म करता है, वे भी उसे कर्तव्यपरायण सिद्ध नहीं करते। कलिंग-विजय के बाद जब वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है और मांस-भक्षण कम कर देता है तब उसे यह समझ बैठना कि वह दयाशील बन गया है, त्यागी हो गया है, इतिहास की भारी भूल समझी जायगी। लाखों को मौत के घाट उतार-कर उसने सारे भारतवर्ष पर वह धाक बिठा दी थी कि अगर वह सचमुच संन्यासी बनकर राजसिंहासन पर बैठा रहता तो किसीकी मजाल नहीं थी कि जो उसके राज्य पर आक्रमण करने की सोचता या उसके अपने राज्य का कोई व्यक्ति उस-के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा करता। इसलिए उसका सारा त्याग लोभ में डूबा हुआ था। वह राजा होते हुए भी ऋषि के नाम से भी प्रसिद्ध होना चाहता था। इसलिए उसे महान् कह बैठना हम तो इतिहास की भूल ही मानते हैं।

एक और उदाहरण लीजिये। मुग़ल बादशाहों में हमें बाबर महान् जंचता है। भले ही उसने दौलतखां को धोखा दिया हो, पर धोखा देना तो राजनीति में साधारण कृत्य समझा जाता है। लेकिन जब उसका बेटा हुमायूं बीमार पड़ता है और वह राजपाट, यहांतक कि अपनी जान का भी लोभ छोड़कर बेटे को बचाता है और अपनी जान पर खेल जाता है, तब वह

के साथ शिष्टतापूर्वक वर्ताव करता है या नहीं ? किन्तु इससे पहचाना जाता है कि उसने अपने लोभ-लालच को कहांतक जीत लिया है। उसने अपने ममत्व को कितना काबू में कर लिया है, क्योंकि यही वह गुण है, जो आजादी के पथ पर व्यक्ति की चाल तेज करता है और उसे आगे बढ़ाता है।

इतिहास ने अशोक को महान् कह डाला है। हो सकता है, वह लोभ के दूसरे दर्जे को पार कर तीसरे दर्जे में पहुंच गया हो। पर जहांतक हमारा इतिहास का अध्ययन है, वहां-तक हम उसे महानता की कसौटी पर पूरा उतरता हुआ नहीं पाते।

अशोक का बाबा चन्द्रगुप्त महावीर के उपदेशों से प्रभावित था। हो सकता है, उन दिनों जैन धर्म के नाम से कोई संगठन न रहा हो, पर महावीर का अनुयायी होने के नाते चन्द्रगुप्त को जैन ही मानना पड़ेगा। जैन पुराणों में चन्द्रगुप्त का जिक्र है।

जैन धर्म और धर्मों की अपेक्षा पूर्ण अहिंसावादी है। आज उसके अनुयायी पच्चीस लाख के करीब हैं। वे प्रायः सभी शराब-मांस से बचे हुए हैं। इसलिए यह मानने में किसीको इन्कार नहीं होना चाहिए कि चन्द्रगुप्त का बेटा बिन्दुसार अगर निरामिष-भोजी न भी रहा हो तो कुछ दिनों जरूर मांस से परहेज करता रहा होगा और सीधे जीव-हत्या से तो जरूर बचता होगा। हज़रत मोहम्मद तक ने अपने जीवन में कभी किसी जीव की हत्या नहीं की। वह सेनापति जरूर रहे, पर कभी तलवार तक म्यान से नहीं निकाली। तब बिन्दुसार

से ऐसी आशा करना कोई बहुत बड़ी आशा नहीं है।

अशोक इसी बिन्दुसार का बेटा था। इसलिए उसे जैन मानने में झिझक नहीं होनी चाहिए। अब जैन होते हुए भी वह कलिंग पर चढ़ाई कर देता है। लाखों को मौत के घाट उतार देता है। यह किस कर्तव्य-परायणता में शामिल है? इतना ही नहीं, राजगद्दी पाने के लिए वह जितने जुल्म करता है, वे भी उसे कर्तव्यपरायण सिद्ध नहीं करते। कलिंग-विजय के बाद जब वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है और मांस-भक्षण कम कर देता है तब उसे यह समझ बैठना कि वह दयाशील बन गया है, त्यागी हो गया है, इतिहास की भारी भूल समझी जायगी। लाखों को मौत के घाट उतार-कर उसने सारे भारतवर्ष पर वह धाक बिठा दी थी कि अगर वह सचमुच संन्यासी बनकर राजसिंहासन पर बैठा रहता तो किसीकी मजाल नहीं थी कि जो उसके राज्य पर आक्रमण करने की सोचता या उसके अपने राज्य का कोई व्यक्ति उस-के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा करता। इसलिए उसका सारा त्याग लोभ में डूबा हुआ था। वह राजा होते हुए भी ऋषि के नाम से भी प्रसिद्ध होना चाहता था। इसलिए उसे महान् कह बैठना हम तो इतिहास की भूल ही मानते हैं।

एक और उदाहरण लीजिये। मुग़ल बादशाहों में हमें बाबर महान् जंचता है। भले ही उसने दौलतखां को धोखा दिया हो, पर धोखा देना तो राजनीति में साधारण कृत्य समझा जाता है। लेकिन जब उसका बेटा हुमायूं बीमार पड़ता है और वह राजपाट, यहांतक कि अपनी जान का भी लोभ छोड़कर बेटे को बचाता है और अपनी जान पर खेल जाता है, तब वह

के साथ शिष्टतापूर्वक वर्ताव करता है या नहीं ? किन्तु इससे पहचाना जाता है कि उसने अपने लोभ-लालच को कहांतक जीत लिया है। उसने अपने ममत्व को कितना काबू में कर लिया है, क्योंकि यही वह गुण है, जो आजादी के पथ पर व्यक्ति की चाल तेज करता है और उसे आगे बढ़ाता है।

इतिहास ने अशोक को महान् कह डाला है। हो सकता है, वह लोभ के दूसरे दर्जे को पार कर तीसरे दर्जे में पहुंच गया हो। पर जहांतक हमारा इतिहास का अध्ययन है, वहां-तक हम उसे महानता की कसौटी पर पूरा उतरता हुआ नहीं पाते।

अशोक का बाबा चन्द्रगुप्त महावीर के उपदेशों से प्रभा-वित था। हो सकता है, उन दिनों जैन धर्म के नाम से कोई संगठन न रहा हो, पर महावीर का अनुयायी होने के नाते चन्द्रगुप्त को जैन ही मानना पड़ेगा। जैन पुराणों में चन्द्रगुप्त का जिक्र है।

जैन धर्म और धर्मों की अपेक्षा पूर्ण अहिंसावादी है। आज उसके अनुयायी पच्चीस लाख के करीब हैं। वे प्रायः सभी शराब-मांस से बचे हुए हैं। इसलिए यह मानने में किसीको इन्कार नहीं होना चाहिए कि चन्द्रगुप्त का बेटा बिन्दुसार अगर निरामिष-भोजी न भी रहा हो तो कुछ दिनों जरूर मांस से परहेज करता रहा होगा और सीधे जीव-हत्या से तो जरूर बचता होगा। हजरत मोहम्मद तक ने अपने जीवन में कभी किसी जीव की हत्या नहीं की। वह सेनापति जरूर रहे, पर कभी तलवार तक म्यान से नहीं निकाली। तब बिन्दुसार

से ऐसी आशा करना कोई बहुत बड़ी आशा नहीं है।

अशोक इसी बिन्दुसार का बेटा था। इसलिए उसे जैन मानने में झिझक नहीं होनी चाहिए। अब जैन होते हुए भी वह कलिंग पर चढ़ाई कर देता है। लाखों को मौत के घाट उतार देता है। यह किस कर्तव्य-परायणता में शामिल है? इतना ही नहीं, राजगद्दी पाने के लिए वह जितने जुल्म करता है, वे भी उसे कर्तव्यपरायण सिद्ध नहीं करते। कलिंग-विजय के बाद जब वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है और मांस-भक्षण कम कर देता है तब उसे यह समझ बैठना कि वह दयाशील बन गया है, त्यागी हो गया है, इतिहास की भारी भूल समझी जायगी। लाखों को मौत के घाट उतार-कर उसने सारे भारतवर्ष पर वह धाक बिठा दी थी कि अगर वह सचमुच संन्यासी बनकर राजसिंहासन पर बैठा रहता तो किसीकी मजाल नहीं थी कि जो उसके राज्य पर आक्रमण करने की सोचता या उसके अपने राज्य का कोई व्यक्ति उस-के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा करता। इसलिए उसका सारा त्याग लोभ में डूबा हुआ था। वह राजा होते हुए भी ऋषि के नाम से भी प्रसिद्ध होना चाहता था। इसलिए उसे महान् कह बैठना हम तो इतिहास की भूल ही मानते हैं।

एक और उदाहरण लीजिये। मुग़ल बादशाहों में हमें बाबर महान् जंचता है। भले ही उसने दौलतखां को धोखा दिया हो, पर धोखा देना तो राजनीति में साधारण कृत्य समझा जाता है। लेकिन जब उसका बेटा हुमायूं बीमार पड़ता है और वह राजपाट, यहांतक कि अपनी जान का भी लोभ छोड़कर बेटे को बचाता है और अपनी जान पर खेल जाता है, तब वह

सच्चे अर्थों में पूरा आज़ाद होकर इस दुनिया को छोड़ता है। इसमें हमारे पाठकों में से किसीको पुत्र का मोह झलक सकता है, पर उससे तो कोई खाली नहीं। इसलिए उसको गिनना बेकार। बाबर को महान ही कहना पड़ेगा।

अब लीजिये इतिहास के अकबर महान को। वह मरते समय अपने मृत पुत्र दानियार को याद करता है, लेकिन जीवित पुत्र सलीम (जहांगीर) से बेज़ार होकर। इस तरह वह दुनिया से विदा होता है। हमारी राय में अकबर ने पूरी तरह से आज़ाद होकर या कम-से-कम बाबर की बराबर आज़ाद होकर इस दुनिया को नहीं छोड़ा। इसलिए महानता की हमारी कसौटी पर जलालुद्दीन (अकबर) पूरा-पूरा नहीं उतरता।

बात असल में यह है कि वे सब बातें, जो मनुष्य को उसका कर्तव्य भुलाये रखती हैं, बड़ी मुश्किल से पीछा छोड़ती हैं। सन्त-महन्त और ऋषि-मुनि भी इस तरह रूढ़ियों में फंसे हुए हैं कि वे इस कीचड़ में फंसे हुए भी अपनेको इस कीचड़ से अलग समझते रहते हैं। आत्मा के लोभ का, भ्रम का, पर्दा इतना बारीक है कि उसे पर्दा समझने की कोई हिम्मत ही नहीं करता। फिर उसे हटाने या फाड़ डालने की कोई सोचे भी तो कैसे सोचे ?

अब आइये, तीसरे दर्जे के लोभ पर। यह लोभ बहुत कम हानिकर है। इसलिए इस ओर ध्यान जाना बेहद मुश्किल है। इस दर्जे के लोभी से समाज का कुछ नहीं बिगड़ता। दुनिया का कोई नुकसान नहीं होता। जो कुछ होता है, लोभी का ही होता है।

एक बकरी के बच्चे को लीजिये। उसे लिटा दीजिये और

सच्चे अर्थों में पूरा आज़ाद होकर इस दुनिया को छोड़ता है। इसमें हमारे पाठकों में से किसीको पुत्र का मोह झलक सकता है, पर उससे तो कोई खाली नहीं। इसलिए उसको गिनना बेकार। बाबर को महान ही कहना पड़ेगा।

अब लीजिये इतिहास के अकबर महान को। वह मरते समय अपने मृत पुत्र दानियार को याद करता है, लेकिन जीवित पुत्र सलीम (जहांगीर) से बेज़ार होकर। इस तरह वह दुनिया से विदा होता है। हमारी राय में अकबर ने पूरी तरह से आज़ाद होकर या कम-से-कम बाबर की बराबर आज़ाद होकर इस दुनिया को नहीं छोड़ा। इसलिए महानता की हमारी कसौटी पर जलालुद्दीन (अकबर) पूरा-पूरा नहीं उतरता।

बात असल में यह है कि वे सब बातें, जो मनुष्य को उसका कर्तव्य भुलाये रखती हैं, बड़ी मुश्किल से पीछा छोड़ती हैं। सन्त-महन्त और ऋषि-मुनि भी इस तरह रूढ़ियों में फंसे हुए हैं कि वे इस कीचड़ में फंसे हुए भी अपनेको इस कीचड़ से अलग समझते रहते हैं। आत्मा के लोभ का, भ्रम का, पर्दा इतना बारीक है कि उसे पर्दा समझने की कोई हिम्मत ही नहीं करता। फिर उसे हटाने या फाड़ डालने की कोई सोचे भी तो कैसे सोचे ?

अब आइये, तीसरे दर्जे के लोभ पर। यह लोभ बहुत कम हानिकर है। इसलिए इस ओर ध्यान जाना बेहद मुश्किल है। इस दर्जे के लोभी से समाज का कुछ नहीं बिगड़ता। दुनिया का कोई नुकसान नहीं होता। जो कुछ होता है, लोभी का ही होता है।

एक बकरी के बच्चे को लीजिये। उसे लिटा दीजिये और

उसके मुंह पर एक रूमाल डाल दीजिये। फिर देखिये, उस बच्चे का डर के मारे पेशाब निकल आया है। वह मींगनी कर देगा। पता नहीं, ऐसा क्यों होता है? क्या वह इतना समझदार है कि यह समझ बैठता है कि वह मारा जाने को है या मार दिया गया है? पर यह सब तो उसका भ्रम है। इतना ही नहीं, जब-तक आप उसके मुंह पर से रूमाल नहीं हटायंगे, वह मृतवत् पड़ा रहेगा। घंटे-भर तक का हमारा अनुभव है। अचरज नहीं, दो-तीन घंटे इस अवस्था में रखने से वह सचमुच अपने प्राण गवां बैठे। एक बात और। रूमाल उसके सिर पर से हटा दीजिये, वह एकदम उठकर भाग जायगा।

किसी बत्तख को चित्त लिटाकर उसकी छाती पर झर-बेरी के बराबर एक कंकरी रख दीजिये। अब वह बत्तख नहीं उठ सकेगी। यह शरारत हमने आठ बरस की उम्र में खूब की है। पर हमारे साथी जल्दी ही कंकरी फेंककर बत्तख को आज़ाद कर देते थे।

पशु-पक्षी जैसा ही मनुष्यों का हाल है। वे लोभ और लालच से ऊपर उठ चुके हैं, पर उन्हें पता ही नहीं कि वे वैसा कर चुके हैं, और यह हल्का-सा भ्रम उन्हें बरसों दास बनाये रखता है। गांधीजी जब मैदान में कूदे, दसियों-बीसियों का, शायद सैकड़ों-हजारों का यही हाल था कि वे लोभ-लालच से बिल्कुल बरी हो चुके थे। पर आज़ादी की बात सोचने को तैयार ही न थे। गांधी की देखा-देखी जब वे मैदान में कूदे तो उन्हें अपने पर विश्वास ही न हुआ कि यह उनका अपना बल है या गांधी का सहारा कि वे इस तरह देश की आज़ादी में जुट गये हैं।

यह है लोभ की तीसरी अवस्था। इस अवस्था के मनुष्य बहुत जल्दी मामूली निमित्त पाकर दासता के जामे को उतार फेंकते हैं और अपनेको पूर्ण आज़ाद अनुभव करने लगते हैं। इन्हींमें आत्म-प्रेम एक क्षण में दीपक के जलने की तरह जगमगा उठता है और जिस आत्म-शक्ति का इन्हें भान भी न था, उसके ये अचानक मालिक बन बैठते हैं और ऐसे काम करके दिखा जाते हैं, जिन्हें आम जनता आमतौर से और दासता में फंसे खासतौर से चमत्कार समझ बैठते हैं।

लोभ का चौथा दर्जा क्रोध, मान, माया के चौथे दर्जे की तरह जीवन के लिए अत्यावश्यक है। उतने लोभ के बिना आत्मा देह के साथ नहीं रह सकता। आत्मा औदारिक देह को छोड़कर शायद कुछ क्षण रह ले, पर सूक्ष्म देह को छोड़कर एक क्षण भी नहीं रह सकता। इस लालच के वश उसे सैकड़ों ऐसे कर्म करने पड़ते हैं, जो लोभ और लालच दिखाई देते हैं, पर वे आज़ादी में बाधक नहीं होते। दूसरे उन्हें देखकर भ्रम में पड़ सकते हैं, पर वे वे ही होंगे, जिन्हें आज़ादी की चाट नहीं लग पाई।

: ६ :

रुचि

रुचि या रति एकार्थवाची शब्द हैं। रुचि को नष्ट करने बैठ जाना, यह न तपस्या है, न त्याग। रुचि का आज़ादी से गहरा सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि दासत्व में यही रुचि खोटा रूप ले लेती है। स्वस्थ और स्वाभाविक रुचि दूसरी

चीज़ होती है और अस्वस्थ और अस्वाभाविक रुचि दूसरी चीज़ होती है। स्वस्थ नन्हें बालक पर नज़र डालिये। वह नमक, खटाई, मिर्च, सभीके लिए मुंह बिगाड़कर अपनी रुचि का पता देगा। जो उसके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होगा, उसी-को रुचि-पूर्वक ग्रहण करेगा। उसकी यही रुचि धीरे-धीरे बीमार बना दी जाती है। जो रुचि उसकी दासी थी, वही रुचि अब उसको अपना दास बना लेती है। इसमें रुचि का क्या कसूर! आज़ाद पुरुष को रुचि से घबराना नहीं चाहिए। उसे बेड़ी नहीं समझना चाहिए। वह स्वस्थ जीवन के लिए अत्यावश्यक है। यह समझना नितान्त भूल है कि सब आज़ाद पुरुषों की रुचि समान होनी चाहिए।

रुचि काल के अनुसार बदलती रहती है। देश-देश की अलग रुचि हो सकती है। आदमी-आदमी की अलग रुचि हो सकती है। एक ही आदमी की समय-समय पर भिन्न रुचि हो सकती है। यह सिद्धान्त कि 'परिवर्तन जीवन है' कभी नहीं भूलना चाहिए। हम हर क्षण बदलते रहते हैं। समस्त जगत हरदम बदलता रहता है। फिर रुचि हर क्षण क्यों नहीं बदलेगी? हां, यह जरूर होगा कि रुचि का बदलाव हमसे सम्बन्धित होगा, न कि यह कि हम रुचि के बदलाव से सम्बन्धित होंगे। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि तेज़ बुखार में शक्कर कड़वी मालूम होती है। लौंग खा लेने के बाद गुड़ का मिठास बहुत कम हो जाता है। एक वनस्पति का नाम है गुड़मार। उसके पत्ते में यह सिफत है कि वह गुड़ के मिठास को एकदम नष्ट कर देती है। मधुमेह के रोग का वह इलाज भी है। यह सब कहकर हम यह कहना चाहते हैं कि रुचि जब अस्वस्थ

और दास होती है, तब उसकी छांट भी हानिकर होती है। हमारा यह पक्का खयाल है कि पूरी तरह आज़ाद आदमी की रुचि खाने में कभी ऐसी भूल नहीं करेगी, जिसके लिए धर्म-शास्त्र के हवाले ढूंढ़ने पड़ें।

जंगल में रहनेवाले पशु-पक्षी बहुत दर्जे तक आज़ाद हैं, फिर भी वे आज़ाद मनुष्य जितने आज़ाद नहीं हो सकते। अपनी कम आज़ादी में भी वे खान-पान में कम-से-कम भूल करते हैं। इस विषय में दासत्व में फंसा आदमी न जाने क्या-क्या खाने को तैयार हो जाता है। उस दास और अस्वस्थ रुचि को अपनी आज़ाद रुचि मानने लगता है।

बन्दर खान-पान के मामले में आदमी से बहुत मेल खाता है, पर आज़ाद आदमी की अपेक्षा वह खान-पान में बेहद गलती कर सकता है, क्योंकि उसकी रुचि पूरी तरह से आज़ाद नहीं। कर सकता ही नहीं है, करता हुआ पाया गया है। वह बहुत जल्दी अफीम खाना सीख लेता है, शराब पीना सीख लेता है। इसलिए कोई आज़ाद आदमी बन्दर की नकल नहीं करेगा। वह अपनी रुचि के लिए उस ओर आंख उठाकर भी नहीं देखेगा।

खान-पान की रुचि के बारे में आज़ाद आदमी को किसी-से सीख लेने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। न इस मामले में उसका कोई गुरु होगा, न ग्रन्थ के हवाले की जरूरत होगी। आज़ाद व्यक्ति स्वयं अपना गुरु होता है। ग्रन्थ आज़ाद व्यक्ति की रचना है। ग्रन्थों ने आज़ाद व्यक्ति की सृष्टि नहीं की।

स्वामी राम एक मशहूर संन्यासी हो गये हैं। वह सचमुच पूरे आज़ाद थे। एक सज्जन उनके पास यज्ञों के बारे में

सलाह लेने पहुंचे। वह बोले, "यज्ञ नहीं करना चाहिए।" सज्जन ने कहा, "वेदों में तो यज्ञ करने की आज्ञा है।" इसके उत्तर में स्वामी राम को यही कहना पड़ा कि यह मृत वेद की आज्ञा है। यह राम ज़ीवित वेद है। यहां यह याद रहे कि उन्होंने अपने वचन को मानने के लिए उन सज्जन को बाध्य नहीं किया। युक्तियां दीं। उनकी हर तरह तसल्ली की। यहां हमें पाठकों से इतना ही कहना है कि आज़ाद व्यक्ति को अपनी रुचि के लिए ग्रन्थों से हवाले नहीं ढूंढ़ने पड़ते। उसकी रुचि इतनी परिष्कृत होती है कि उससे भूल हो ही नहीं सकती।

अन्त में हमें यही कहना है कि अगर आप आज़ाद और आत्म-प्रेमी हैं और अगर आपने अपनेको धोखे में नहीं डाल रखा है तो आपकी रुचि आपको कभी धोखा नहीं देगी। सुबह की लालिमा आती तो सूरज से पहले है, पर हर तरह वह सूरज का अंग होती है। इसी तरह आज़ाद आदमी की रुचि दिखलाई तो ऐसी देती है कि वह उसपर सवार है, पर वास्तव में वह आज़ाद व्यक्ति के हाथ का खिलौना होती है। फिर वह लालिमा की तरह प्रकाश करने की जगह अंधेरा कैसे फैला सकती है? इसलिए विभिन्न रुचियों से घबराने की जरूरत नहीं।

: ७ :

अरुचि

'अरुचि या अरति' 'रुचि या रति' का दूसरा पहलू है। रुचि बिना अरुचि के नहीं बनती। रुचि-अरुचि साथ-साथ

चलती हैं। जहां रुचि है, वहां अरुचि ज़रूर है। इसलिए अरुचि भी आज़ादी में बाधक नहीं होती। पर यही अरुचि दासता की बेड़ियों को और जकड़ देती है। दासता में यह भयंकर रूप ले बैठती है। दासता की निर्मल रुचि जिस तरह त्याज्य है,' उसी प्रकार अरुचि भी त्याज्य है। दास की हैसियत से कोई मूर्ति-पूजा छोड़कर देश के लिए, दुनिया के लिए, आफत सिद्ध हो सकता है, जैसा होता आया है। इसके विपरीत आज़ाद व्यक्ति मूर्ति-पूजा छोड़ता ही नहीं, करता भी नहीं। यही कारण है कि आज़ाद की यह अरुचि उसके लिए स्वास्थ्यकर होती है, समाज के लिए स्वास्थ्यकर होती है और सारे जगत के लिए स्वास्थ्यकर होती है। आज़ाद व्यक्ति को दासता से रुचि नहीं हो सकती। तब अरुचि होनी ही चाहिए और अरुचि खराब चीज़ है। पर आज़ाद व्यक्ति के लिए यही अच्छी चीज़ है। असल में दासता एक अवगुण है। उसका अपने-आप कहीं अस्तित्व ही नहीं। उससे रुचि रखो या अरुचि, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। आज़ाद पुरुष दासों को अपने बेटों की तरह प्यार करता है, दासों की तरह नहीं। उसकी दासों से मिलने-जुलने में तो रुचि होती है, पर दासता से अरुचि बनी रहती है। अगर ऐसा न हो तो उसकी आज़ादी एक निरर्थक चीज़ बन जायगी।

दासता के प्रति आज़ाद व्यक्ति की अरुचि दासों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। यही हाल उसकी मूर्ति-पूजा के प्रति अरुचि का होता है।

यह सुनकर पाठकों को अचरज होगा कि मोहम्मद साहब ने काबे की तीनसौ साठ मूर्तियों में से किसी एक को भी बुरी

नज़र से नहीं देखा। वह आज़ाद थे। उन्हें मूर्ति की रुचि-अरुचि से क्या लेना-देना था ! लेकिन उन लोगों ने भी जो बाद में उनके अनुयायी बने और जो मूर्ति-पूजक नहीं थे, मूर्तियों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया। मूर्ति तोड़ने का पागलपन नहीं दिखलाया। हां, काबे में एक मूर्ति छोड़ तीनसौ उनसठ मूर्तियां जरूर हो गई। एक अलमन्नात्र नाम की देवी रह गई। यह सारे अरबों की पूज्य देवी थी। यह भी मोहम्मद साहब की रुचि-अरुचि का शिकार हुए बिना काबे को छोड़कर चल दी। पाठक यह न समझें कि यह कोई चमत्कार हुआ। नहीं-नहीं, सब मुसलमान अरबों की राय से वह भी वहां से हटा दी गई।

यह है स्वस्थ अरुचि। इसका मोहम्मद गौरी की अरुचि से कोई मेल नहीं खाता। मोहम्मद गौरी रहा होगा आजाद बादशाह। पर न वह पूरा आज़ाद था, न आत्म-प्रेमी। राजा और आज़ादी, ये साथ-साथ रहनेवाली चीजें नहीं हैं। राजा के पीछे अनेक भय लगे रहते हैं। आज़ादी और भय में वही सम्बन्ध है, जो प्रकाश और अंधेरे में। आज़ाद व्यक्ति की अरुचि प्रकाश और प्रेम फैलाती है। दास की अरुचि अंधेरा और घृणा फैलाती है।

रुचि-अरुचि का सम्बन्ध खाने-पीने और पहनने से नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में ये अपना कार्य करती है। राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में ये बड़े भयानक रूप धारण कर लेती हैं। उसीका यह परिणाम होता है कि तरह-तरह के राज्य खड़े हो जाते हैं और तरह-तरह के धर्मों की स्थापना हो जाती है। तब राज्यों और धर्म-संगठनों में किसी भी बात की अरुचि को लेकर युद्ध छिड़ जाते हैं। दंगे-फिसाद होने लगते हैं।

अरुचि इतनी भयानक चीज़ होते हुए भी आज़ाद के लिए त्याज्य नहीं। जिस तरह रुचि के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता, उसी तरह अरुचि के बिना भी जीवित नहीं रहा जा सकता। नरम-गरम बिजली की तरह रुचि-अरुचि अपना चक्र बनाये रखती है और जीवन को सौंदर्य प्रदान करती रहती है। अरुचि अपने-आपमें भयानक है ही नहीं। वह शहद की तरह अपनी कोई तासीर ही नहीं रखती। जिस तरह शहद अनु-वाहक है, यानी गरम चीज के साथ गरम हो जाता है और सर्द के साथ सर्द, इसी तरह अरुचि भी अनुवाहक है। वह दास के साथ दास है और आज़ाद के साथ आज़ाद।

गांधीजी को ले लीजिये। उन्हें राज्य-शासन सम्भालने से अरुचि थी। पर वह थी स्वस्थ और सामयिक अरुचि। इससे उनकी अरुचि न उनकी आज़ादी में बाधक बन पाई, न दूसरों की आज़ादी में।

जिन लोगों ने राज्य सम्भाला, उनकी पूरी रुचि उसमें थी या नहीं, यह वे जानें! उनकी रुचि आज़ाद थी, या नहीं, यह भी ठीक-ठीक वे ही बता सकते हैं। एक पूर्ण आज़ाद व्यक्ति ही दूसरों की रुचियों को कसौटी पर कसने के योग्य होता है और हम अपनेको इतना आज़ाद नहीं समझते कि हम किसीकी रुचि या अरुचि को कसौटी पर कसकर कोई फैसला दे सकें। हमने यत्र-तत्र जो इस तरह के उदाहरण दिये हैं, वे घटनाओं को लेकर दिये हैं। व्यक्तियों के बारे में अगर हमने कहीं राय बनाई है तो ऐसे व्यक्तियों के बारे में बनाई है, जिन्हें हमने आंखों से देखा है। उनके साथ घंटों या हफ्तों सम्पर्क रहा है। पर फिर भी हम यह दावा नहीं कर सकते कि हम ठीक ही हैं।

हम जो कुछ कहते हैं वही कहते हैं, जो उन व्यक्तियों का हम-पर प्रभाव पड़ा। पाठकों को यह तो याद ही रखना चाहिए कि हमारी अपनी रुचि और अरुचि भी हैं और उनसे हम उस समय बरी नहीं थे, जब उन व्यक्तियों से हम प्रभावित हुए।

अरुचि रुचि की तरह आज़ादी का आवश्यक भाग है। अरुचि-रहित होने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अरुचि-रहित होने का जो दावा करता है, वह झूठा दावा करता है। जो अरुचि-रहित है, वह या तो है ही नहीं और अगर कोई ऐसे व्यक्ति के होने का दावा करता है तो फिर वह व्यक्ति न संसारी हो सकता है, न संसारमय हो सकता है। उसका होना भी न होने के समान रह जाता है। अरुचि को लेकर हममें और आपमें झगड़े हो सकते हैं, पर आज़ाद व्यक्तियों के बीच अरुचि भेद-भाव पैदा नहीं करती, भेद-भाव मिटाती है। अरुचि के बिना भेद-भाव मिटाया नहीं जा सकता। वास्तव में अरुचि कुछ है ही नहीं। वह तो सहारे के आधार पर ही कुछ है। जैसा सहारा होगा वैसा ही वह कार्य करेगी।

अगर आप आज़ाद और आत्म-प्रेमी हैं तो आप खुद ही अपने अन्तस्तल को टटोलकर देख सकते हैं कि एक नहीं, सैकड़ों तरह की रुचि-अरुचि आपके अन्दर कार्य कर रही हैं। इतना ही नहीं, कभी कोई चीज़, जो अरुचि का विषय बनी हुई थी, रुचि का विषय बन जाती है। जो रुचि का विषय थी, वह अरुचि का विषय बन जाती है। रुचि की तरह अरुचि भी नित्य परिवर्तनशील रहती है। इससे न डरने की जरूरत है, न बचकर भागने की। आपकी आज़ादी, आपका आत्म-प्रेम आपकी अरुचि को न आपके लिए कभी

हानिकारक सिद्ध होने देगा, न समाज के लिए।

: ८ :

घृणा—१

घृणा से घृणा तो सबको है। पर इससे बचा हुआ कोई नहीं है। यह भी जीवन के लिए जरूरी है। पर भारत में एक दल ऐसा है, जो घृणा को पूर्णतया त्याज्य समझता है। उनके अनुसार घृणा व्यक्ति को छोड़कर तो नहीं भागती, उल्टी उसके पीछे पड़ जाती है।

ऐसे दल का नाम है अघोरी। उनका यह खयाल है कि घृणा के सर्वनाश से एक महान् शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह खयाल किसी अंश में है तो ठीक, पर उसके किसी एक अंग को खींच ले जाना घृणा का नाश करना नहीं, उसे बलवान बनाना है। अघोरी लोग टट्टी-पेशाब से घृणा नहीं करते। वे पेशाब तक को पी लेते हैं। उससे स्नान कर लेते हैं। ऐसा ही बर्ताव वे मैले के साथ करते हैं। मैले के घोल से वे स्नान कर सकते हैं और ऐसा करके वे समझते हैं कि उन्होंने घृणा को जीत लिया, या दूसरे शब्दों में उन्होंने घृणा को अपने में से निकाल बाहर कर दिया।

हम एक से ज्यादा अघोरियों से मिल चुके हैं। इन्हें न कोई ऋद्धि प्राप्त थी, न कोई सिद्धि। उनसे वार्तालाप करने पर उनकी बुद्धिमत्ता की छाप भी हमपर नहीं पड़ी। हां, इतनी बात ज़रूर थी कि सैकड़ों ग्रामवासी उनके भक्त थे और उन्हें जरूरत से ज्यादा सम्मान देते थे। दो-एक ऐसे भक्त भी

थे, जो हरदम उनके दांये-बांये रहते थे और उनके खाने-पीने का भी प्रवन्ध कर देते थे। वे ज़रूर उनसे कुछ आशा भी रखते होंगे।

जिस तरह घृणा के विषय में लोग ऐसी खींच-तान कर बैठते हैं, वैसी खींच-तान सव विषयों में बुद्धिमत्ता की द्योतक नहीं समझी जाती। एक दृष्टि से ऐसे कामों को अज्ञान का ही परिणाम माना जायगा। पर इस तरह की खींच-तान से लोग बच नहीं पाते, क्योंकि ये खींच-तान पूज्य बनी हुई है और सारे संसार में आदर पाती जा रही है। किसीका इस ओर ध्यान ही नहीं गया कि यह जवरदस्त दासता है। छत्तीस-छत्तीस घंटे पानी में पड़े रहना, पचास-पचास घंटे साइकिल चलाते रहना इत्यादि, इन सवके पीछे प्रसिद्धि की भावना ज्यादा और आज़ादी की भावना कम है। आत्म-प्रेम से उन्हें कोई सरोकार नहीं। यह इस समय हमारा विषय नहीं है। यह तो हमने इसलिए कह दिया कि ऐसा ही वर्ताव घृणा के साथ हो रहा है और इन सव कृत्यों का असर घृणा पर भी पड़ता है।

घृणा पर कुछ लिखने से पहले जन्मजात घृणा को समझना है। देखने में तो आपको ऐसा मालूम होगा कि वालक घृणा करना जानता ही नहीं, पर यह वात आपने टट्टी-पेशाव को ध्यान में रखकर कही है। लेकिन घृणा इतनी ही नहीं होती। घृणा का क्षेत्र वहुत विस्तृत है और वह वच्चे की प्रगति के साथ वढ़ता जाता है। शुरू-शुरू में यह उसमें वीज के रूप में रहता है। धीरे-धीरे अंकुर फोड़ता है और फिर वढ़ता जाता है।

कितना ही छोटा बालक क्यों न हो, अनुचित गर्मी-सर्दी से घृणा करता है। मुंह बनाकर घृणा का प्रदर्शन करता है। यह है उसकी स्पर्शेन्द्रिय घृणा। मुंह में बाल आ जाने पर थूक निकालकर अपनी घृणा को जताता है। अनुचित गंध को छींक लेकर प्रदर्शित करता है। तेज रोशनी से उसे घृणा है, इसलिए उस घृणा को अजब तरह से आंखें बन्द करके दिखलाता है। तेज आवाज से भी उसे घृणा होती है। इसलिए बन्दूक की आवाज़ से वह उछल पड़ता है और इस तरह अपनी घृणा यानी नफ़रत का इज़हार कर देता है।

बेशक, सामाजिक घृणा से वह अछूता होता है। वह उसमें बाद में आती है। श्मशान के बीभत्स दृश्य उसपर कोई असर नहीं डाल सकते। अस्पताल की चीर-फाड़ उसको विचलित नहीं कर सकती। टट्टी-पेशाब से उसे घृणा होती ही नहीं। ऐसी नफ़रतें उसमें बड़े होने पर पैदा होती हैं। ये अच्छी चीज़ें नहीं हैं। ऐसी घृणा त्याज्य है। वह त्याज्य ही समझी जानी चाहिए। आज़ाद और आत्म-प्रेमी ऐसी नफ़रतों से दूर रहता है। अगर ऐसा न हो तो वह न समाज-सेवा कर सकता है और न आज़ादी का प्रचार कर सकता है। डाक्टर लोग हम में से ही तो होते हैं; पर न उन्हें पीप से घृणा होती है, न खून से। न थूक से घृणा होती है, न खखार से। टट्टी-पेशाब की जांच तो आएदिन डाक्टर करते हुए देखे जाते हैं। जिस काम को मामूली आदमी कर लेता है, उसे आज़ाद व्यक्ति क्यों नहीं कर लेगा? खुलासा यह कि ऐसी सामाजिक घृणा, जो सामाजिक नियमों से ही पैदा होती है, सामाजिक नियमों से ही खत्म कर दी जाती है।

घृणा के विस्तृत क्षेत्र को हमारे पाठकों ने समझ लिया होगा। फिर भी मानसिक घृणा पर थोड़ा और प्रकाश डाले देते हैं। कारण यह है कि यों तो जितनी भी घृणाएं हैं, सभी इन्द्रियों द्वारा होती हैं, पर मन अपनी अलग घृणाएं पैदा कर लेता है। उनसे बचना बहुत मुश्किल है। आजादी और आत्म-प्रेम में यह सिफ़त तो है कि वह इन नफ़रतों से भी व्यक्ति को ऊंचा उठा देता है, पर कुछ तो ऐसी हैं कि दास अवस्था में भी अगर उनका ज्ञान हो जाय तो छोड़ी जा सकती हैं। ऐसा करना आज़ाद होने में सहायक होता है।

नीच लोगों से जो घृणा होती है, वह मानसिक घृणा है। चोरों, डाकुओं, जुआरियों, ज़ारों, लम्पटों से की हुई घृणा इसी कोटि में आती है। ये आज़ादी में बड़ी बाधक होती हैं। आप लम्पटता से घृणा कर सकते हैं, पर लम्पट से घृणा करके उसकी लम्पटता में वृद्धि ही करेंगे। इसीलिए किसी दुर्गुणी से घृणा करना उसमें दुर्गुणों की वृद्धि करना है। चोर से चोरी छुड़ाने में न कभी पुलिस समर्थ हुई, न न्यायाधीश और न राजा, क्योंकि तीनों ही चोर से घृणा करते हैं। यह है मानसिक घृणा, जो बहुत गहरा असर रखती है। इसलिए चोर चोरी छोड़ने की जगह या और कोई दुर्गुणी दुर्गुण छोड़ने की जगह, पक्का चोर और पक्का दुर्गुणी बन जाता है। यही आज़ाद साधु चोर से एक क्षण में करा लेता है और दुर्गुणी से भी करा लेता है। क्यों? इसका जवाब सीधा-सादा है, क्योंकि वह उनसे घृणा नहीं करता, दुर्गुणों से घृणा करता है। दुर्गुणों से घृणा हानिकारक नहीं होती। वह आजादी में बाधक नहीं होती।

गुणावगुण से जो राग-द्वेष होता है, उससे आत्मा में कंपन

मेहतर का काम मेहतर, चमार, डोम, कंजर इत्यादि जातियां ही करती थीं। पर अगर कोई मेहतर का काम खुद आगे होकर करना चाहता था, तो उसे वैसा करने दिया जाता था। मैंने अपनी आंखों से देखा कि एक ब्राह्मण और एक ठाकुर ऐसे ही दो कैदी थे, जो मेहतर का काम स्वयं आगे आकर किया करते थे। इसका कारण यह था कि मेहतर का काम करनेवाले को जी-भर रोटियां खाने को मिलती थीं, और भी चीजें मिल जाती थीं। बीड़ी का सुभीता हो जाता था। बाहर बगीचे में घूमने को मिल जाता था।

यह भी एक तरह की आजादी थी। हां, जेलखाने की आज़ादी। ऐसी झूठी आज़ादी भी जब आदमी को घृणा से ऊपर उठा देती है, तो सच्ची आज़ादी उसे घृणा और भेद-भाव से कितना ऊंचा उठा देगी, इसका अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता।

जोहो, जुम्मा कैदी हथकड़ियों को एक झटके में तोड़ सकता था। यह सुनी हुई बात नहीं है। उसने मुझे तोड़कर हथकड़ी दिखलाई। उसका यह दावा था कि सरकार कितने ही ताले लगा ले, कितनी ही हथकड़ियां और बेड़ियां डाल दे और कितनी ही जेलखाने की दीवारें ऊंची करले, सिर्फ यह गारन्टी कर दे कि मैं अगर जेल से भाग जाऊं तो मुझे गिरफ्तार नहीं करेगी, तो मैं जेल से भागकर दिखा सकता हूं। देखा आपने? बाहरी बंधन तोड़ना कितना आसान है? पर यही जुम्मा 'राम' कहते हुए डरता था। यह था उसका मानसिक बंधन। 'राम' कहने से उसे ऐसा लगता था, मानों वह नरक में जा गिरेगा। 'अल्लाह' कहने से उसे आनन्द मिलता था,

तसल्ली होती थी, पर आज़ादी की चाह ने सन् १९२१ में यह मानसिक बंधन एकदम तोड़कर फेंक दिया था। 'अल्लाहो अकबर' और 'सत् श्रीअकाल' के नारे हिन्दू-मुसलमान दोनों के मुंह से ही नहीं, मन और आत्मा से निकलते थे। किसी तरह का भेद-भाव नहीं रह गया था। जिस तरह आजादी की चाह घृणा को नष्ट करती, भेद-भाव को मिटाती, ऊंच-नीचपन को उड़ाती चली जाती है, उसी तरह घृणा के दूर होने पर भेद-भाव के मिटने पर आज़ादी अपने-आप ठीक वैसे ही फूट निकलती है, जैसे वर्षा के जल से धरती में हरियाली के अंकुर फूटने लगते हैं और सैकड़ों प्राणी आनन्द में मगन हो जाते हैं।

सचमुच घृणा से दूर होने पर क्षण-भर में आदमी कुछ-का-कुछ हो जाता है। यह बात हम पुराणों की कथा के आधार पर नहीं कह रहे। हमने अपनी आंखों एक-दो नहीं, दस नहीं, हजारों-लाखों को क्षण-भर में घृणा से ऊपर उठते देखा है।

आप आज़ाद बनना चाहते हैं? यदि हां, तो घृणा से चिपके रहकर, भेद-भाव के जेलखाने में बन्द रहकर, ऊंच-नीच की भावना में डूबे रहकर, आज़ाद नहीं बन सकते। ये जंजीरें परराष्ट्र की गुलामी की जंजीरों से कहीं कड़ी जंजीरें हैं। भूत कहीं नहीं है। वह मन में रहता है। शंका ही भूत है, ममता ही डायन है। ये वे बेड़ियां हैं, जो हमारे मन ने गढ़ी हैं। इसलिए मन इन्हें आसानी से नहीं तोड़ेगा। अन्तरात्मा की सीधी आज्ञा पाकर ही वह इन वन्धनों को तोड़ फेंक सकता है। अन्तरात्मा मन को ऐसी आज्ञा उसी समय देगा,

जब किसी कारण से आज़ादी की चाह तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उठी होगी।

यह हम कह चुके हैं कि आज़ादी वाहर की चीज नहीं है, अन्दर की चीज है। यह एक ज्योति है, जो हरदम हरेक के भीतर जलती रहती है। उसे झूठा अभिमान, अनुचित क्रोध, गहरा लालच और भारी डाह ढंके हुए हैं। यह ठीक है कि इनका नाश करना कठिन ही नहीं, वल्कि असम्भव है, पर ऐसे अवसर आते हैं, जब इस ढक्कन को ठेस लगती है, इसमें दरार हो जाती है। ज्योति इन दरारों में से होकर फूट निकलती है और एकदम सारा संसार वदल देती है। इसलिए हर आजादी चाहनेवाले का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह छोटे-बड़े किसी अवसर को न चूकने दे।

इस प्रकार की दृष्टि अभ्यास करने से प्राप्त नहीं होती। अगर प्राप्त हो भी जाय तो यह आजादी का अंकुर फोड़ने में सहायक नहीं हो सकती। वह तो एकदम अचानक ही पैदा होती है। गाय वच्चा देते ही दूध देने लगती है। वछिया को बरसों दोहकर आप दूध पा सकते हैं, पर बस तोले दो तोले। लेकिन ये सब न तो उसमें वात्सल्य ही पैदा करा सकते हैं और न पुत्र-प्रीति ही। इसलिए जब भी किसी में देश की आज़ादी के प्रति प्रेम जाग जाय, उसके दूसरे क्षण ही उससे घृणा दूर हो जाती है। भेद-भाव भाग जाता है, ऊंच-नीच की भावना काफूर हो जाती है। ठीक है, ऐसे काम के लिए अवसर की जरूरत है, पर ऐसा कोई नियम नहीं है। कभी-कभी स्वयं ही अन्तःस्फूर्ति होती है और बैठे-विठाये प्रेम-भावना

जाग उठती है और वही शुभ अवसर वन बैठती है। शुद्धोधन का पुत्र गौतम इसका उदाहरण है। यही बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

घृणा के मामले में अपने-आपको धोखा कभी मत दो। आजादी के पथ पर किसीको भी धोखा देना दासता के पथ पर मुड़ना है। और फिर अपनेको धोखा देना तो दासता के सागर में डूबने जैसा है। जब भी हम कोई आडम्बर रचते हैं, तब किसी-न-किसी को धोखा दे रहे होते हैं। कभी-कभी आडम्बर के द्वारा अपनेको भी धोखा दे रहे होते हैं। तब यह धोखा-देही घृणा दूर करने में कैसे समर्थ हो सकती है? अगर दिखावे के लिए ऐसा हो भी जाय तो वह आजादी की जनक नहीं हो सकती। इसलिए दिखावे के लिए घृणा का त्याग, घृणा करने से भी ज्यादा हानिकर है। घृणा करना छूट सकता है, लेकिन घृणा न करने का ढोंग छूटना कठिन ही नहीं, असम्भव भी हो जाता है, क्योंकि इस-से यह होता है कि घृणा की जड़ें शनैः-शनैः गहरी से और गहरी होती चली जाती हैं।

पुलिस की वर्दी इस बात का चिह्न नहीं है कि इस वर्दी में छिपा आदमी सबल देह रखता है। वह तो इस बात का चिह्न है कि इस वर्दी के पीछे कोई बलवान शक्ति है, पर वर्दी इस बात का भी कोई पक्का सबूत नहीं है। उसे बदमाश, चोर, उचक्का कोई भी पहन सकता है और पहनकर आएदिन लोग धोखा देते हुए भी देखे जाते हैं। यही हाल साधु के बाने का है। यही हाल किसी भी ऐसे बाने का है, जिसका आजादी या ईमानदारी से सम्बन्ध है। इन सब ढोंगों से बचना

बेहद ज़रूरी है। कहीं घृणा न करने के इस ढोंग में जा फंसे तो न आप घर के रहेंगे, न घाट के।

घृणा के किसी रूप में रहते हुए आप प्रेम-बेल को कैसे सरसा सकेंगे? और उस बेल के बिना किसमें आप आज़ादी के गुच्छे सरसा सकेंगे? फिर किस तरह आप आज़ादी के सुस्वाद रस का पान कर सकेंगे? घृणा इस राह में सर्वथा त्याज्य है।

: १० :

झिझक

जिस तरह कायरता का दूसरा नाम नपुंसकता है, उसी तरह झिझक का नाम है नारीपना। झिझक हम सबमें है, चाहे कोई व्यक्ति दास हो या आज़ाद। इसलिए इसकी असलियत को समझ लेना निहायत ज़रूरी है। कायरता और झिझक में जमीन आसमान का अंतर है। झिझक कायरता से ऊंचे दर्जे की चीज़ है। झिझक कभी-कभी दास को ऊंचे उठने में सहायक होती है। इसलिए झिझक से सर्वथा बचने की ज़रूरत नहीं। उसके स्थूल रूप से ही बचना चाहिए। झिझक हर बच्चा जन्म से ही अपने साथ लाता है। पशु-पक्षियों में इस झिझक का तमाशा हरकोई देख सकता है। चिड़िया झिझकते-झिझकते ही झिझक छोड़ती है। कुत्ता और उसके बच्चे आदमी के साथ, सालों रहने पर भी, उसके पास आने में झिझकना नहीं छोड़ पाये हैं। पत्थर की मूरत के पास भी हिंस्र पशु झिझकते-झिझकते आते हैं।

झिझक बेशक बुरी चीज़ है। पर उसे सर्वथा त्यागने की बात भी बेहद बुरी है। प्रकृति की देन बेमतलब नहीं होती। सिर होना जरूरी है, पर सिर का मामूली से ज्यादा बड़ा हो जाना जितना हानिकारक है, उतना ही मामूली से छोटा होना भी। इसी तरह झिझक पैदायशी झिझक से ज्यादा खराब और कम भी खराब है। वह झिझक हमको दुनिया में बनाये रखने के लिए निहायत जरूरी है। सन्तों-महन्तों ने और धर्म-ग्रंथों ने इससे जो मुक्ति पाने की बात कही है, उसे अगर सच मान लिया जाय तो फिर इसका यही मतलब होगा कि आदमी न दीन का रह जायगा, न दुनिया का। अगर आदर्श इसीको कहते हैं कि वह लक्ष्य जहां कभी न पहुंचा जा सके, तो संत-महन्तों और धर्म-ग्रंथों की बात हमारे सिर माथे। लेकिन अगर यह कहा जाय कि इस आदर्श तक पहुंचा जा सकता है या पहले कुछ लोग पहुंच चुके हैं तो हम यह कहेंगे कि इस अवस्था को पहुंचकर वे या तो पत्थर बन गये होंगे या संसार में रहे ही न होंगे।

आज़ाद और आत्म-प्रेमी व्यक्ति को पग-पग पर यह झिझक सहायक होती है। झिझक जिसके पीछे कमजोरी रहती है, वह और चीज़ होती है। जिसके पीछे आत्म-शक्ति का ज्ञान रहता है, वह दूसरी चीज़ होती है।

दास की झिझक और आज़ाद की झिझक में ज़मीन आसमान का अन्तर होता है। दास की झिझक दुनिया के सामने आ जाती है। कोई उसे नारी कह सकता है, जो झिझक का दूसरा नाम है। आज़ादों का नारीपन दुनिया के सामने मरदाने रूप में आता है। दास में जब नारीपन जागता है, तब

वह उसकी सारी देह पर कावू पा लेता है और उसे तदनुकूल क्रियाएं करनी पड़ती हैं। आज़ाद पुरुष में नारीपन के जागने का सवाल ही पैदा नहीं होता। वह तो उसमें इस तरह मिला-जुला बैठा रहता है जैसे महादेव का वह चित्र, जो आधा नर के रूप में और आधा नारी के रूप में दिखाया गया है। यही कारण है कि आज़ाद का नारीत्व दूसरों के बेजा नारीत्व को नष्ट करने में सहायक होता है। आज़ाद की झिझक कुछ ऐसी झिझक होती है, जिसे देख दूसरों की झिझक अपने आप काफूर हो जाती है। बच्चे भी तो झिझकती हुई मां को आगे बढ़ते देख अपनी झिझक छोड़ देते हैं। अगर मां पूरी तरह से आजाद हुई तो उसमें झिझक होगी ही नहीं। और जो सूक्ष्म होगी तो वह स्वाभाविक होगी। ऐसी मां के बच्चे भला क्यों झिझकने लगे!

हम इस विषय को ज्यादा बढ़ाना मुनासिब नहीं समझते। पर झिझक या नारीत्व सचमुच ऐसा गुण है, जो स्थूल रूप में सबपर छाया हुआ है। पर इस पर जितना कहा जाय उतना थोड़ा है। यहां तो हम उन्हींको आगाह करना चाहते हैं जो आज़ाद बन चुके हैं, आत्म-प्रेमी हो चुके हैं और अपनी सूक्ष्म झिझक से या अपने सूक्ष्म नारीत्व से झिझक रहे हैं।

: ११ :

शोक

सब धर्म-ग्रंथों का यही कहना है कि शोक नहीं करना चाहिए। सोच में पड़ जाना, अफसोस करना, पछताना, दुखी होना, सब शोक में शामिल हैं। ऋषि-मुनियों ने तो यहांतक कह डाला है कि पंडित वह है, जो शोक न करे। सारे धर्म-ग्रंथ इस राय से सहमत हैं, हम भी सहमत हैं, लेकिन सर्वथा सहमत नहीं हैं। कोई आज़ाद सर्वथा शोक-रहित नहीं हो सकता। हां, पत्थर की मूरत हो सकती है। शोक-रहित को समझाने के लिए हम किसी जीवित व्यक्ति को पेश नहीं कर सकते। मृत पुरुष या पुराण पुरुष को ही पेश कर सकते हैं। इनकी अनुपस्थिति में पत्थर की मूरत हमारे सामने है ही।

कलाकार ने भले ही पत्थर की मूरत को शोक-रहित गढ़ा हो और भले ही ऋषि-मुनियों ने देवी-देवता को शोक-रहित माना हो और भले ही ग्रंथकारों ने अपने-अपने ग्रंथों में शोक-रहित व्यक्तियों को चित्रित किया हो, पर आजकल के भक्तों ने देवी-देवताओं को मन्दिर में आंसू टपकाये बिना नहीं रहने दिया। कितनों ही को आंसू बहाते हुए भगवान का ही साक्षात्कार हुआ, पर इसे छोड़िये।

जीवन में शोक उतना ही आवश्यक है, जितना प्राण। प्राण हवा के सिवा और कुछ नहीं। आत्मा के लिए हवा ज़रूरी नहीं। पर बिना हवा के आत्मा किसी देह में रहती नहीं, इसी तरह देहधारी बिना शोक के नहीं रह सकता।

गांधीजी ने एक बार कहा था कि अगर मुझ पर आफत आ जाय तो भी मैं सत्य से विचलित नहीं होऊंगा। रही रोने की बात या आंखों से आंसू बहाने की बात, सो वह तो देह का धर्म है। देह अपना धर्म निभाती रहेगी और मैं अपना धर्म निभाता रहूंगा।

यहां कोई देह को आत्मा से सर्वथा भिन्न न मान ले। यह हम भी मानते और जानते हैं कि आत्मा रोता नहीं है। पर देह भी नहीं रोती। मृतक की आंखें आंसू नहीं बहाती हैं। और अगर किसी कारण मृतक की आंख से पानी निकलने लगे तो उसे आंसू की संज्ञा नहीं दी जाती। फिर जब न आत्मा रोता है, न देह, तब रोता कौन है? यह भी याद रहे कि आंखों से आंसू तबतक नहीं निकलते, जबतक उसके पीछे कोई भाव न हो। फिर चाहे वह हर्ष का हो या विषाद का। हर्ष-विषाद शोक के ही दो पहलू हैं। शोक एक भाव है। भाव भले ही मन में उठते हों, पर आत्मा के इशारे पर उठते हैं। इसलिए गांधीजी के आंसू गांधीजी के ही रहेंगे और उसके पीछे उनका शोक भी रहेगा।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि शोक भी जीवन के लिए अत्यावश्यक है। ऐसा शोक बंधन का कारण नहीं होता। इस शोक के लिए हम सोते हुए छोटे बालक पेश कर रहे हैं, पर वह उसका उचित उदाहरण नहीं है। छोटा बालक सोते हुए मुस्कराता भी है और बिसूरता भी है, और ये दोनों परिवर्तन उसमें जल्दी-जल्दी होते हैं। इस प्रकार का शोक सर्वोत्तम शोक होता है। यह हानिकर नहीं होता, स्वास्थ्यकर होता है। बच्चे के ऐसे शोक को लेकर माताओं ने एक कहानी घड़ रखी

है, वह यह कि बच्चे को सपने में वेमाता (विधना) दिखाई देती है। जब वह यह कहती है कि तेरी मां मर गई तो वह विसूरने लगता है और जब वह यह कहती है कि तेरी मां जी उठी तो वह हँसने और मुस्कराने लगता है। इस दन्तकथा से हमें क्या लेना-देना ! यहां तो हमें केवल यह बताना है कि इस सर्वोत्तम शोक से भी परमोत्तम शोक आज़ाद व्यक्ति का होता है। वह शोक उसकी आज़ादी में बाधक नहीं होता, सहायक होता है। होम्योपैथी के उसूल के अनुसार जैसे का तैसा ही इलाज होना चाहिए। अगर यह ठीक है तो आज़ाद का शोक दास के शोक का निवारण करता है।

शोक को देह का धर्म कहकर यही कहा जाता है कि यह देहधारी का धर्म है। ग्रामोफोन का शोक, शोक-निवारण में सहायक नहीं हो सकता। आज़ाद व्यक्ति का शोक ही यह काम कर सकता है।

शराब शोक को भुला देती है। शोक से ध्यान को हटा देती है। शोक को हटाती नहीं है। तरह-तरह के नाटक, सिनेमा भी यही काम करते हैं और यही काम वे सब बन्धु-बांधव और इष्ट-मित्र भी करते हैं, जो शोक-प्रदर्शन करने के लिए आते हैं।

इन सबसे शोक बढ़ भी सकता है, घट भी सकता है, मिटा हुआ-सा भी दिखाई दे सकता है, पर मिट नहीं सकता। मिट नहीं सकता, अर्थात् दुःख देना नहीं छोड़ सकता। तभी तो 'शोक छोड़ो' का शोर मचाया गया है, पर किसी भी तरह की दासता रहते शोक के दुःख से छुट्टी हासिल नहीं की जा सकती। उसके दुःख को नष्ट करनेवाली तो आज़ादी और

आत्म-प्रेम ही है। आज़ाद व्यक्ति का शोक जली हुई रस्सी के वट के समान होता है। इसलिए आज़ाद व्यक्तियों और आत्म-प्रेमियों को स्वाभाविक शोक से बचने की आवश्यकता नहीं। वह आज़ादी की शान है, आत्म-प्रेम की पहचान है।

: १२ :

भय

भय यानी डर बहुत बुरी चीज़ है। इसीका एक नाम शंका भी है। किताब के शुरू में ही हम इसकी बुराई लिख चुके हैं। पर यहां तो हम यह बताने जा रहे हैं कि भय आज़ादी का रक्षक है। भय आज़ादी की जान है। उसके बिना आज़ादी, आज़ादी नहीं। दासों का भय मिटाने के लिए आज़ाद का भय ही होम्योपैथी की दवा का काम करता है। अभयदान जो आज़ाद का स्वभाव है, वह निर्भय होकर दिया ही नहीं जा सकता, जबतक स्वाभाविक भय आदमी के पास न हो।

निर्भयता का सर्वोत्तम उदाहरण दस-पन्द्रह दिन का जना छोटा बालक है। दूध-पीते बालक भी निर्भय ही माने गये हैं। सांप, शेर किसीका डर उन्हें नहीं लगता। ठीक है, ऐसी निर्भयता की जड़ में अज्ञान रहता है। अनुभवहीनता रहती है। पर इससे हमें क्या लेना-देना! हम यहां निर्भयता की सिद्धि नहीं कर रहे। हम तो यह कहना चाहते है कि इतना निर्भय बालक भी भय रखता है।

'भय रखता है' ये शब्द हमने सोच-समझ कर कहे हैं।

बड़े आदमी भय नहीं रखते, भयभीत होते हैं। इन्हें डरपोक कहा जा सकता है। कायर कहा जा सकता है। ये कभी-कभी भयानक हो उठते हैं। बड़े-बड़े अन्याय कर बैठते हैं। दास जो ठहरे। छोटा बालक भयभीत नहीं होता। उसे डरपोक नहीं कहा जा सकता। उसे कायर नहीं कह सकते। वह भयानक कृत्य नहीं कर सकता, क्योंकि वह भय रखता है। भय उसमें स्वाभाविक है। वह उसका रक्षक है। जितनी आज़ादी उसे हासिल है, उसकी वह निशानी है। यों समझिये कि भय उस बच्चे का प्राण है, उसकी जान है।

आवाज़ होने पर बच्चा अपना वदन सिकोड़ लेता है। आंख की रक्षा करने के लिए पलक मारता है। और भी इसी तरह की क्रिया करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसमें भय विद्यमान है। सोते-सोते चौंक पड़ना, उछल पड़ना, इस बात के चिह्न हैं कि भय अन्तस्तल में भी विद्यमान है। ठीक है, यह भय पूर्ण आज़ादी का द्योतक नहीं, फिर भी बच्चे जितना आज़ाद अगर मनुष्यों में ढूंढ़ा जाय तो शायद ही कोई मिलेगा।

इस स्वाभाविक भय से कोई मनुष्य बचा हुआ नहीं है। यह भय स्वास्थ्यप्रद होता है, हेय नहीं है, त्याज्य नहीं है। और न उन भयों का बीज है, न उनसे कोई सम्बन्ध रखता है, जो आदमी ने गढ़ रखे हैं। उनको भय की संज्ञा दे दी गई है, पर वे सब भय से अत्यन्त नीचे दर्जे की चीज़ें हैं, सर्वथा हेय हैं, दासता के चिह्न हैं, अज्ञानता के द्योतक हैं और मूर्खता-वर्धक हैं। जैसे भूत-प्रेत का भय, कल्पना के गढ़े देवता

का भय, देवों के देव महादेवों का भय, परलोक का भय, नर्क का भय इत्यादि।

स्वाभाविक भय हम सबकी रक्षा करता है। तोप की आवाज़ से उचक उठना दास के लिए भले ही बुरा हो, पर आज़ाद के लिए बुरा नहीं। ऐसा क्यों? इसलिए कि दास व्यक्ति उछलकर ही नहीं रह जाता। वह उसी निर्मल भय पर गन्दे भय के महल खड़े करने लगता है और दुख-सागर में डूब ज़ाता है। आज़ाद ऐसा नहीं करता।

पुराणों में तपस्वियों के बारे में जो ये कथाएं हैं कि उन्हें हिंसक पशु खा रहे हैं और वे अचल बैठे हैं, वे इस बात का द्योतक नहीं हैं कि वे लोग सर्वथा निर्भीक थे। अव्वल तो ये सतियों की कथा की तरह सत्य ही नहीं हैं और अगर सिपाहियों की कथा की तरह सत्य भी हों तो उनके पीछे लोभ और लालच की भावना रहनी चाहिए, फिर वह चाहे परलोक का हो, या स्वर्ग अथवा मोक्ष का हो,। पर यहां हमें असल बात यह जाननी है कि जब उनपर हमला हुआ तब उनमें स्वाभाविक भय उत्पन्न हुआ या नहीं? नहीं हुआ तो वे आज़ाद नहीं थे। स्वाभाविक भय होना ज़रूरी है। ध्यान में लीन मनुष्य को जब भी कोई छेड़ता है तो उसे रोमांच हो आता है। हां, समाधिस्थ अवस्था देह को भय-रहित कर देती है। पर उस समय तो देह ही अपना धर्म खो बैठती है। हम मनोविज्ञान की गहराई में ज्यादा न जाकर यहां इतना कहना ही मुनासिब समझेंगे कि देह उस समय पथरा जाती है, जड़ बन जाती है। फिर भय का सवाल ही नहीं उठता। हमने अपनी आंखों समाधिस्थ व्यक्ति को देखा है।

अतः भय आज़ादी का चिह्न है। उसे सर्वथा दूर करने की जरूरत नहीं। उससे आज़ादी में वाधा नहीं पड़ती। आत्म-प्रेमी स्वाभाविक भय का आदर करता है। उसको अपनाता है। उससे वचने की कभी नहीं सोचता।

: १३ :

समझकर मानना

पेड़ के वीज में पेड़ मौजूद रहता है, उसी तरह आदमी के कीटाणु (स्पर्म) में पूरा आदमी निवास करता है। पूरे आदमी से मतलब है सचेतन, सज्ञान। जब यह बात है, तब बालक के रूप में पैदा होनेवाला मनुष्य अज्ञानी कैसे कहा जा सकता है? पर सारा जगत बालक को अज्ञानी कहता चला आया है, कहता है और कहता रहेगा। बात यह है कि असली ज्ञान तो बालक में पूरा मौजूद होता है, पर व्यावहारिक ज्ञान उसे नये सिरे से करना ही पड़ता है। इसलिए उसे व्याव-हारिक ज्ञान की अपेक्षा अज्ञानी कहना ही पड़ता है।

वट वृक्ष की शाखा पेड़ से रस प्राप्त करती है। पत्तों को हरा रखती है, कोंपलें फोड़ती है, और विना कली-फूल के फल पैदा कर लेती है, अर्थात् मूल रूप से वह पूरी तरह पेड़ है। पर उसी शाखा को काटकर आप दूसरी जगह रोप दीजियेगा, वह मुरझा जायगी, क्योंकि उसे व्यवहार-ज्ञान नहीं है। वह जानती ही नहीं कि धरती से रस कैसे खींचा जाता है। पर जल्दी ही वह अनुभवी वन जाती है। धरती में उसकी जड़ें फैलने लगती हैं और उनसे रस खींचकर अपनेको हरा-

भरा कर लेती है। पूरा पेड़ बन बैठती है। आदमी का बच्चा भी पैदा होने के दूसरे क्षण से ही अनुभव करने लगता है। उसका रोना तक निरुद्देश्य कर्म नहीं होता। उसके पीछे कामना रहती है। उस कामना की वह पूर्ति करता है। प्रकृति उसका एक और महान कार्य कर डालती है। वह उसके रोदन से उसके फेंफड़ों को सशक्त बनाती है।

अब आपने देख लिया होगा कि नवजात बालक भी बिना सोचे-विचारे कुछ नहीं करता। और फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह बिना सोचे-समझे कुछ नहीं मानता। न कभी माननेवाला है।

ऊपर ऐसी बात कही गई है, जिसे पाठक जल्दी ही नहीं मान लेंगे और यह हमारे मतलब की बात होगी। इस अध्याय का शीर्षक ही है 'समझकर मानना'। आम तौर से देखा यह जाता है कि बालक को जो कहा जाता है, वह मान लेता है। बिना प्रयास वैष्णव का बालक वैष्णव, जैन का बालक जैन, मुसलमान का बालक मुसलमान और ईसाई का बालक ईसाई धर्म का विश्वासी बन बैठता है। तब समझकर मानने की बात कहां रह गई।

शंका दुरुस्त है। फिर उसका समाधान यह है कि ऐसे सब बालक वैष्णव, शाक्त इत्यादि होते हैं नाम के लिए। इन्हें उस धर्म का ज्ञान नहीं होता है और उसके अनुसार आचरण तो उनसे कोसों दूर रहता है। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि उन्होंने कुछ माना ही नहीं।

हमारी बात ठीक है, इसका प्रमाण क्या है? प्रमाण यह कि किसी बालक ने आग को अगर गरम माना है तो उसकी

मां ने उसे कभी बताया था कि आग गरम होती है। उसने तो आग में अपनी अंगुली एक से ज्यादा बार जलाकर और रोकर ही यह पाठ हृदयस्थ किया है कि आग गरम होती है और इतनी गरम होती है कि उसे आदमी की देह सहन नहीं कर सकती।

आज्ञा न मानने में बालक प्रसिद्ध हैं। ऐसा करके वे कोई पाप नहीं कर रहे होते, धर्म ही कर रहे होते हैं। समझकर मानने का सिद्धान्त उन्नति के लिए अत्यावश्यक है। ऐसा करके वे उसी सिद्धान्त का आदर कर रहे होते हैं। उन गढ़वालियों ने, जिन्होंने निहत्थे पठानों पर गोली चलाने से इन्कार किया था, न्याय-धर्म का तो पालन किया था, पर कमाण्डर की आज्ञा का उल्लंघन किया था। इस कारण उन्हें लाल फाटक की हवा खानी पड़ी। ऐसा ही घर के बालकों के साथ होता है। आज्ञा न मानने पर उनसे कारण नहीं पूछा जाता। उन्हें तुरन्त दण्ड दिया जाता है। हुक्म मानने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता है और इस तरह उन्हें ठूठ और मूर्ख बनाया जाता है। ऐसा करना अनुन्नत समाज के लिए आवश्यक है।

आज के समाज को अनुन्नत समाज कह डालना बढ़कर बोलना है। पर जिसने दो महायुद्ध देखे हों, जिसे जलियांवाला बाग-काण्ड का अनुभव हो और जिसने इसी सन् १९६० में जलियांवाला बाग-काण्ड की अफ्रीका में दूसरी आवृत्ति का हाल सुना हो, उसे बड़बोला नहीं समझा जाना चाहिए। इसे मानने से इन्कार करना कि बिना समझे किसीको मानने के लिए बाध्य करना सबसे बड़ा पाप है, समाज की उन्नति से इंकार करना है।

दुनिया के सारे धर्म जाने-अनजाने यही काम कर रहे हैं, अर्थात् बिना समझाये लोगों को मानने के लिए मजबूर कर रहे हैं। यही वह जड़ है, जिसकी शाखाएं हैं गुरुडम, पूंजीवाद, सेनावाद इत्यादि। फौज और पुलिस के सिपाही को चूं करने का अधिकार नहीं और ये दोनों चूं किये बिना न्याय-अन्याय सबकुछ कर डालते हैं। इसका एक ही मूल कारण है कि बालपन में उनसे ऐसी आज्ञाएं मनवाई गईं, जो उनकी समझ में ठीक नहीं थीं और इस तरह मां-बाप और समाज ने इन बालकों को जानें-अनजाने पक्का दास बना दिया, जिन्हें प्रकृति ने पैदा तो स्वच्छन्द किया था, पर उन्हें संयम का पाठ पढ़ाकर आज़ादी के सच्चे सैनानी बनाना चाहती थी।

समझकर मानना कितना जरूरी है, इसका महत्व हमारे पाठक जरूर समझ गये होंगे। अगर इस पाठ पर आरम्भ से जोर दिया जाता रहता तो आज समाज चाहे इतने चमत्कारी आविष्कारों से विभूषित न होता, पर इतना डरा हुआ और दुखी भी न होता, जितना वह आज है। आज का मनुष्य पहले से ज्यादा सबल नहीं है, बहुत कम बलवान है। हां, उसकी लाठी मशीनगन जरूर बन गई है। आज के आदमी की कोई भी इन्द्रिय पहले के आदमी से ज्यादा बलवान नहीं है, उल्टी बेहद निर्बल है। हां, ऐनक जरूर माइक्रोस्कोप और टेलिस्कोप बन बैठी है। उसके कान कुत्ते से भी ज्यादा दूर का सुन सकते हैं। पर यह सब रेडियो की मदद से, और ऐसे रेडियो की मदद से, जिसका सुननेवाले को कोई ज्ञान नहीं। इस बेढंगे तरह की उन्नति का परिणाम आज जितना भयानक रूप ले चुका है और जितना खटक रहा है, उतना न कभी

भयानक हुआ था और न खटका था। इस भय और खटक को अगर दूर किया जा सकता है तो सिर्फ 'समझकर मानने' के सिद्धान्त को मानकर, अर्थात् जबतक तुम्हारे गले न उतर जाय, किसी बात को मानना नहीं चाहिए।

यहां यह शंका हो सकती है कि यह तो बड़ा टेढ़ा सवाल है। ऐसा करने से समाज में अव्यवस्था पैदा हो जायगी। हुल्लड़ मचने लगेगा। शंका किसी हद तक ठीक है, पर आज हुल्लड़ से भरे, जगह-जगह विप्लव होने और गोली चलनेवाले इस संसार में ऐसा डर भी किसलिए? हम ऐसे लोग अपनी आंखों देख चुके हैं, जो अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन को महाभयानक समझते थे और उससे ऐसे ही दूर रहे, जैसे कोई आग और सांप से दूर रहता है। पर उस भयानक आन्दोलन ने तो भारत को किसी-न-किसी अंश में आजादी दिला दी। इसलिए समझकर माननेवाला सिद्धान्त अमल में आने से इतना भयानक सिद्ध नहीं होगा, जितना लोगों ने मान रखा है।

समझकर मानने से आज़ादी के पौधे को पानी मिलता है, धूप-चांदनी मिलती है, हवा मिलती है, घूमने के लिए खुला आकाश मिलता है और साथ ही ठीक विचार करने की शक्ति आ जाती है, जो शक्ति आज एकदम कुंठित हो गई है। एक तरह से हमारे सोचने के लिए कुछ रह ही नहीं गया। धर्म की बात है तो वेद देख लीजिये, पिटक देख लीजिये, इन्जील देख लीजिये, कुरान देखिये, ताजा-ताजा सत्यार्थ प्रकाश देखिये। मतलब यह कि अपनी बुद्धि पर सोचने का ज़रा भी जोर न डालिये। राजनीति की बात है तो मैकॉले पढ़िये, मार्क्स पढ़िये। नीति

की बात है तो रूसो पढ़िये, कारपेन्टर पढ़िये, मनु पढ़िये। नये पढ़ने हों तो कबीर पढ़िये, पर खुद कुछ न सोचिये। थोड़े में यह कि कोई विषय क्यों न हो, सबके लिए ग्रंथ मौजूद हैं। ग्रंथों की अनुपस्थिति में उनके जानकार पंडित मौजूद हैं। अगर मौजूद नहीं हैं तो आपकी अपनी बुद्धि और आपकी सोचने की शक्ति।

इसीका यह परिणाम हुआ है कि हम बस लड़ना-भर जानते हैं। लड़ने के बाद शान्त होकर आपस में निबटारा करना नहीं जानते, क्योंकि हम सोचते ही नहीं। यह काम हमने वकील के सुपुर्द कर रखा है। डिप्टी कलक्टर या मुंसिफ के सुपुर्द कर रखा है और इस तरह के विचार का ईश्वर हमने सुप्रीम कोर्ट को मान रखा है, क्योंकि उसकी बात हमें माननी ही पड़ती है।

इसीका यह परिणाम हुआ है कि हम बीमार पड़ने पर यह सोचने की कोशिश ही नहीं करते कि बीमारी हमारे पास आई क्यों? यह हमारा काम ही नहीं। यह काम डाक्टर के सुपुर्द है। हकीम-वैद्य के सुपुर्द है। हम बिना सोचे-समझे वहां दौड़ते हैं और वह मानते हैं, जो वह कहता है। यह तो आएदिन होता है कि एक आदमी पूर्ण स्वस्थ है, पर चूंकि डाक्टर उसे बीमार कहता है, इसलिए उसे अपनेको बीमार मानना पड़ेगा और दफ्तर के सब अफसरों को उसे बीमार समझना पड़ेगा। उसे छुट्टी देनी होगी। वह दिन दूर नहीं है, जब डाक्टर के यह सर्टीफिकेट देने पर कि तुम मर गये हो, तुम्हें अपने को मरा हुआ समझना पड़ेगा और ऐसा ही दफ्तर के अफसरों को समझना पड़ेगा। सरकार को भी यही मानना होगा।

इसीका यह परिणाम हुआ है कि आप भले ही कितने ही योग्य क्यो न हों और कितनी ही योग्यता अपने अफसर के सामने क्यों न प्रदर्शित कर दिखायें, लेकिन वह आपको अपने दफ्तर में हरगिज़ जगह नहीं देगा, क्योंकि यूनिवर्सिटी का रजिस्ट्रार यह कहता है कि आप कुछ नहीं जानते। इस तरह की दुनिया में रहकर अगर आप सुखी हैं, तब तो हमारा मन यह कहावत पुकार उठेगा—'सबसे भले विमूढ़ जन, जिन्हें न व्यापे जगत गति।'

समझकर मानिये, नहीं तो आज़ादी आपके पास नहीं फटकेगी। जो आज़ाद हैं, जो आत्म-प्रेमी हैं, वे समझकर ही मानते हैं। इसलिए उनका आज के धर्मों में से कोई धर्म नहीं होता। उनका तो धर्म, धर्म ही होता है। उसके साथ कोई उपाधि नहीं होती। कहिये, आपका यही तो धर्म है। यदि है, तो आप आजाद हैं और आत्म-प्रेमी भी हैं, और आत्म-श्रद्धावान तो हैं ही।

: १४ :

जानकर मानना

आज़ाद हो या दास, जानकारी से कोई खाली नहीं होता। यह भी ठीक है सब-की-सब जानकारी जानी हुई नहीं होती। जानकारी का सबसे बड़ा भाग कल्पित होता है। उससे कम भाग सुना सुनी सुना हुआ होता है। बहुत ही कम भाग ऐसा होता है, जो हमने कर्म करके जाना और सीखा होता है। जो

जितना ज्यादा कल्पित और श्रुत भाग पर भरोसा करता है, वह उतना ही दासता में फंसा हुआ होता है। कल्पित और श्रुत भाग का अभिमान धोखे की चीज़ है। वह हमसे दूर तो नहीं होगा और दूर न होने से कोई नुकसान भी नहीं है। ध्यान तो इस बात का ही रखना चाहिए कि हम उस जानकारी का उपयोग इस तरह न करें, जिस तरह जानी हुई जानकारी का करते हैं।

'जानी हुई जानकारी से' हमारा मतलब है उस जानकारी से, जो हमने काम करते-करते प्राप्त की है। वही जानकारी ऐसी है, जो आज़ादी में सहायक होती है। यह सबको मालूम है कि लड़ाई फौज के सिपाही जीतते हैं। पर जीत का सेहरा सेनापति के सिर पर बांधा जाता है। देखने में तो ऐसा मालूम होता है कि यह बड़ा अन्याय है। जीत का यश तो सिपाहियों को मिलना चाहिए था। अगर हम थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लें तो फिर हमें यह मानना पड़ेगा कि जीत का सेहरा लाठियों के सिर या तलवार-बन्दूकों के सिर बंधना चाहिए और उन्हींको जीत का यश मिलना चाहिए, न कि सिपाहियों को, क्योंकि उनकी मदद से ही नहीं, उन्हींसे लड़ाई जीती जाती है। पर ऐसी बात कोई मानने को तैयार नहीं होगा। सब जानते हैं कि लड़ाई के हथियार अजानकार के हाथ में उल्टी उसीकी जान ले बैठते हैं। सिपाही इकट्ठे होकर लड़ाई नहीं जीत सकते। सम्भव है, आपस में लड़कर खुद ही जान गवां बैठें। लड़ाई के दांव-पेचों की जानकारी, किताबी या सुनी हुई नहीं, सच्ची जानकारी सेनापति को ही होती है। सिपाही जवान होते हैं। सिपाहियों का दूसरा

नाम ही जवान है। वे न बूढ़े होते हैं, न बूढ़े होने चाहिए। इसके विपरीत सेनापति बूढ़ा ही होता है। जापान का नियोगी ऐसा ही सेनापति था। रूस-जापान में युद्ध होते समय वह नव्वे वर्ष का था। अपने-आप घोड़े पर नहीं चढ़ सकता था। दो सिपाहियों की मदद से घोड़े पर सवार होता था। एक वार एक नया आया हुआ सिपाही यह देख हँस पड़ा ! उससे जब सेनापति ने हँसने का कारण पूछा तो उसे कहना पड़ा कि आप जब घोड़े पर चढ़ नहीं सकते तो लड़ेंगे क्या। इसके जवाब में उसने यही शब्द कहे थे कि हां, मुझे घोड़े पर चढ़ाने के लिए दो आदमी दरकार होते हैं, लेकिन घोड़े से गिराने के लिए हजारों की ज़रूरत होती है। और ऐसा कहने के बाद वही सेनापति उसी दिन मुकदन का किला फतह करके जीवित लौटा—वह किला जो किसी तरह फतह ही नहीं हो रहा था। नियोगी जाना हुआ जानकार जो था।

आज की शिक्षा-पद्धति कुछ इस ढंग की हो गई है कि हममें जानकारी ठूंस-ठूंस कर भर दी जाती है। कराई रत्ती-भर भी नहीं जाती। उसके बल पर हम दासता का कार्य उत्तम रीति से कर सकते हैं, आज़ादी का काम नहीं। व्यापार शिक्षा के स्नातक यानी बी० कॉम और एम० कॉम बहुत कम पढ़े सेठों की नौकरी में ही मिल सकते हैं, स्वतन्त्र दुकान खोलकर पांव जमाने की बात नहीं सोच सकते, क्योंकि उन सबकी जानकारी किताबी, सुनी या काल्पनिक होती है, अपनी जानी हुई नहीं होती।

शिक्षा के प्रत्येक भाग में यह कमी रहती आई है। मालूम तो ऐसा होता है कि यह कमी जान-बूझकर रखी जाती है।

अंग्रेजी सरकार पर यह दोष साफ-साफ इसलिए मढ़ा जाता रहा कि वह विदेशी थी। पर शिक्षा-पद्धति तो आज स्वराज्य में भी वैसी ही है, और यह कहते हुए हमें तनिक भी झिझक नहीं होती कि पुराने समय से ही शिक्षा-पद्धति इसी ढंग की रहती आई है। पुराणों और कहानियों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं कि गुरुकुलों के निकले हुए स्नातक महापंडित होते हुए भी व्यवहार-ज्ञान से शून्य होते हैं।

इस बात के मान लेने में किसीको संदेह नहीं करना चाहिए कि चटशाला यानी छोटी-से-छोटी शाला से लेकर गुरुकुल और यूनिवर्सिटी और विद्यापीठ अपने विद्यार्थियों में जानकारी ठूंसने का ही काम करते हैं, जानकारी कराने का नहीं। सूत्र-ग्रंथ चिल्ला-चिल्लाकर यह कह रहे हैं कि वे जानकारी रटा सकते हैं, जानकारी करा नहीं सकते।

व्याकरण भाषा-ज्ञान का भंडार होते हुए भी भाषा-ज्ञान नहीं करा सकता। यह सम्भव है कि व्याकरणशास्त्र में पारंगत भाषण देने में मूर्ख सिद्ध हो, या चारों वेद का पाठी यह भी न जानता हो कि वेदों में क्या लिखा है। मेरे आश्रम में एक पंडित जमनादत्त संस्कृत के अध्यापक थे। उनका छः बरस का लड़का पाणिनि की लघु कौमुदी सारी-की-सारी कण्ठस्थ किये हुए था। पर संस्कृत छोड़ वह हिन्दी भी पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। क्या उस लड़के की व्याकरण की जानकारी को जानकारी नाम दिया जा सकता है?

हम इस तरह के उदाहरण देकर अपनी बात को ज्यादा बढ़ाकर असली बात से दूर नहीं होना चाहते। हमें यहां तो इसी बात पर जोर देना है कि हमारे पाठक अपनी-अपनी

जानकारी को परखें और जितनी जानी हुई जानकारी उनके पास है उसीको आधार बनाकर शेष जानकारी को जानी हुई जानकारी बना लें। तब और तभी, वे दासता की बेड़ियां काट सकेंगे और आज़ादी का सुख भोग सकेंगे। आजादी की अवस्था में भी निकम्मी जानकारी हमारे साथ रहती है। पर वह ऊपर नहीं रहती, नीचे दबी रहती है। और जब वह जानी हुई बन जाती है, तब मूल जानकारी में घुल-मिल जाती है।

आज भी हमारे देश भारतवर्ष में विज्ञान के ऐसे जानकार हैं, जो छोटा-मोटा ऐटम बम बना सकते हैं, क्योंकि ये अप्सरा नाम की एक आणविक (एटोमिक) भट्टी तैयार कर चुके हैं। पर ऐसे वैज्ञानिक तो गिनती में इतने भी नहीं हैं कि कनिष्ठा से लेकर अनामिका तक भी गिने जा सकें। इनके विज्ञान-पर्वत की 'गौरीशंकर' और 'कंचनजंगा' नाम देकर भारत का नाम रोशन किया जा सकता है, पर और देशों जैसा काम नहीं किया जा सकता। कारण यही है कि विज्ञान की जानकारी से ठसाठस भरे हुए पंडितों की गिनती तो दसियों, बीसियों, से लेकर सैकड़ों-हजारों तक पहुंच गई है, पर विज्ञान की जानी हुई जानकारी तो एक-दो ही के पास है।

जानी हुई जानकारी कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, अगर वह देश के सब जवान लड़के-लड़कियों को प्राप्त है तो वह उससे कहीं ज्यादा समझी जानी चाहिए, जो कितनी ही बड़ी क्यों न हो, पर प्राप्त हो केवल एक-दो को। एक इंच व्यास वाली एक मील ऊंची लम्बी पानी की धार में पानी तो इतना भी नहीं रह सकता, जितना एक मामूली तालाब में, पर हां, इससे वह प्रान्त या देश सारे जगत में प्रसिद्ध जरूर हो सकता

है, कामवाला नहीं समझा जा सकता। वह ऊंची-लम्बी धार काम की सिद्ध होने के स्थान में उल्टी भयानक सिद्ध हो सकती है। आज की दुनिया कुछ ऐसी ही भूल कर बैठी है।

हमने कपास से सूत निकालने की जानकारी जानकर प्राप्त की है, यानी काम करके प्राप्त की। जिन दिनों प्राप्त की थी, उन दिनों यह ऐसी ही अचरज की चीज थी, जिस तरह आज का ऐटमबम और हाइड्रोजन बम। पर हमने किया यह कि इस जानकारी को गांव-गांव और घर-घर फैला दिया और बच्चे-बच्चे को इस जानकारी का जाना हुआ जानकार बना दिया। यह जानकारी इतनी विस्तृत थी कि बर्तानिया की कपड़े की मिलें इससे होड़ न कर सकीं। रो दीं, चीख पड़ीं और अन्याय पर उतारू हो गईं, तब कहीं जीवित रह सकीं। अगर हमने आगे के सब तरह के विज्ञान को इसी ढंग से फैलाया होता, तो आज शायद हमारे पास रेडियो या टेलिविजन न होता। हो सकता है कि बिजली के कुमकुमे भी न होते। पर हम बहुत सुखी होते। और अगर यूरोप-अमरीका ने हमारा अनुकरण किया होता तो वे दो महायुद्धों में होकर न निकले होते। और फिर तीसरे महायुद्ध के डर से तो कभी न डर रहे होते। जितने हम सुखी होते उतने वे भी सुखी होते।

जानी हुई जानकारी जितनी देश में कम मात्रा में होती है उतनी भयानक और विनाशकारी होती है और जितनी ज्यादा होती है उतनी ही प्यारी और पालक बनती चली जाती है। पहाड़ों की चोटियां बर्फ से लदी रहती हैं। न वहां कोई रह सकता है और न वे किसी और काम आ सकती हैं। पहाड़ों को आबादी के योग्य बनाने के लिए उन चोटियों

को काटकर घाटियों में डालना होता है। तब रहने के लिए पठार तैयार होते हैं। इसी तरह विज्ञान-पर्वत की चोटियों को काटकर नीचे गिराना होगा, विज्ञान के पठार तैयार करने होंगे। तब और तब ही यह संसार सुखी हो सकेगा। जानी हुई जानकारी का क्षेत्र जितना विस्तीर्ण होगा, उतना ही जगत का भला होगा।

हमने एटमबम बनाकर नागासाकी और हीरोशीमा को नष्ट ही तो किया है। अगर हम गहराई से सोचें तो हमारा सारा विज्ञान हमें बेहद हानि पहुंचा रहा है। इसलिए नहीं कि विज्ञान खराब चीज़ है, बल्कि इसलिए कि वह ज्ञान की और शाखाओं की अपेक्षा कुछ इतना जरूरत से ज्यादा लम्बा हो गया है, जैसे किसी बीमार बालक का पेट लम्बा हो जाता है। जिस प्रकार इसका इलाज कराते हैं, उसी प्रकार इसकी प्रगति का भी इलाज कराना पड़ेगा। यह भी जानी हुई जानकारी का कहना है कि अगर चांद पर थूकोगे तो वह थूक तुम्हारे मुह पर ही गिरेगा। इसीके आधार पर यह बात भी कही जा सकती है कि अगर तुम चन्द्रमा को एटमबम की गोला-बारी से तंग करोगे तो वह टूटकर तुम्हींको नुकसान पहुंचायेगा। यह भी तो विज्ञान का ही कहना है कि हमारे सागर की लहरें चन्द्रमा से शासित होती हैं। तब क्या उसका विघ्न हमारे तारों में विघ्न नहीं डालेगा? रेडियो-ऐक्टिव कण और उनके नुकसान से आज हर देश के कालिज का विद्यार्थी जानकार है।

हमारे पाठकों ने अब समझ लिया होगा कि आजाद बनने के लिए जानी हुई जानकारी कितनी जरूरी चीज़ है और

उसे कायम रखने के लिए कितने प्रसार की आवश्यकता है, प्रचार की नहीं। यह भी जान लिया होगा कि उसकी एकांगी उन्नति देश और सारे जगत के लिए कितनी भयानक बन बैठ सकती है। अगर आप आज़ाद और आत्म-प्रेमी हैं तो आप जानी हुई जानकारी पर ही भरोसा करते होंगे, शास्त्रों में पढ़ी और कल्पित जानकारी पर नहीं।

: १५ :

भ्रम-जाल काटना

सबके मन में यह बात समाई हुई है कि देह ही सबकुछ है। यही आत्मा की रक्षा करती है। मकान ही सबकुछ है। यही आदमी को आंधी-पानी से बचाता है, अर्थात् जो देखा, सुना, सूंघा, चखा और छुआ जाता है, वही सबकुछ है। इसी सिलसिले में धन को भी महत्व दिया गया है, फिर चाहे वह गौ-धन हो, अन्न-धन हो, धरती-धन हो, नारी-धन हो, पुत्र-पौत्र-धन हो या स्वर्ण-धन हो। विद्या-धन भी धन माना गया है, पर उसको ज्यादा महत्व नहीं दिया जाता, क्योंकि वह निराकार है। इसी तरह के और भी धन हैं। जैसे—पूजा-धन, अधिकार-धन, तपोधन इत्यादि।

इस ओर किसीका ध्यान नहीं गया कि ऐसी मान्यता भारी भ्रम है। जो निराकार और अमूर्त है, वही सबकुछ है। जिसे सब कुछ समझा जा रहा है वह छूछा, बेकार और कुछ नहीं है। चौंकिये नहीं। यह सत्य से भी बढ़कर तथ्य है।

आइये, आपकी सबकुछ समझी जानेवाली देह को लेते हैं। कानों में सुराख हैं, वह तो देह नहीं है। यह तो खाली जगह है। अर्थात् शून्य है। मुंह में जो पोल है और गले में जो नली है और जो नली फेंफड़ों तक गई है, सभी पोली हैं, अर्थात् सब अन्दर से न-कुछ हैं। यही हाल मूत्र और मल-द्वार का है। कबीरसाहब को अचरज तो हुआ और एक दोहा भी लिख गये—"नव द्वारे का पींजरा तामे पंछी पौन, रहने को अचरज हुवै, गये अचम्भा कौन।" वास्तव में देखा जाय तो न-कुछ नामधारी ये नौ द्वार ही सबकुछ हैं। कौन नहीं जानता कि नाक के दो द्वार और मुंह का एक द्वार बंद कर देने से ये सबकुछ कहलानेवाली देह न-कुछ में बदल जाती है। देखिये, कितना बड़ा भ्रम है। न-कुछ सबकुछ हो गया या नहीं ?

अब अपने घर को लीजिये। उसमें भी सबकुछ है। छत सबकुछ है, खिड़की और द्वार न-कुछ, और बीच की जगह न-कुछ। अब अगर न-कुछ कहलाने वाले खिड़की और द्वार सबकुछ कहलानेवाली भीत में बदल दिये जायं तो आप उसके अंदर कुछ मिनटों में ही जान गवां बैठेंगे और अगर भीतर की जगह भी जो न-कुछ नाम से पुकारी जाती है, सबकुछ में बदल दी जाय तो आपका मकान रहने की जगह भी न रह जायेगा, चबूतरा या चौकोर स्तूप बन जायगा।

भ्रम कुछ भी नहीं, पर भ्रम ही तो है, जो हम सब पर छाया हुआ है, जो हमें यह जानने ही नहीं देता कि हम हैं क्या और हममें कितनी शक्ति है ?

सन् १९२० के अन्त तक दो हजार अंग्रेज हम चालीस

करोड़ पर शासन कर रहे थे, अर्थात् एक अंग्रेज दो लाख हिन्दुस्तानियों को सम्भाले हुए था। दो लाख भेड़ों को भी एक गड़रिया न सम्भाल सकता था। जब भी कोई विदेशी यह सुनता था तो उसे विश्वास नहीं होता था। जब एक हिन्दुस्तानी अमरीका पहुंचा तो अमरीका के एक निवासी के लिए वह तमाशे की चीज बन गया। वह उसे देखने घर से निकला और उसके पीछे-पीछे हो लिया। पीछे-पीछे चलता जाता था और कहता जाता था कि इसके हाथ, पांव, सिर सभी तो आदमी के से हैं। यह चलता है, देखता है, सुनता भी जरूर होगा। इसलिए उसने आवाज दी—"ओ हिन्दुस्तानी!" आवाज सुनते ही उसने मुड़कर देखा और उसे विश्वास हो गया कि यह सुनता भी है। फिर उसने उसे नोचा और उसने तनक कर और पीछे मुड़कर कुछ कहा भी। इससे उसे विश्वास हो गया कि यह तो मुझ ही जैसा आदमी है। फिर इसमें क्या कमी है, जो ऐसे दो लाख को एक अंग्रेज सम्भाले हुए है! बस यही कि हिन्दुस्तानी उन दिनों बड़े मजबूत भ्रमजाल में फंसा हुआ था। भेड़ों के साथ पले शेर के बच्चे की कथा सबने सुन रखी है। उसने जब अपना मुंह पानी में देखा और वह शेर से मिलता हुआ मालूम हुआ तो उसका भ्रम दूर हो गया और उसी क्षण वह भेड़ न रहकर शेर बन गया। दासत्व भी इसी तरह एक भ्रम है। वह हमपर ऐसा छाया हुआ है कि हम यह सोच ही नहीं पाते कि इससे हमारा छुटकारा हो सकता है। सन् १९२० में हम हिन्दुस्तानी अंग्रेजों के दास थे। नये-नये हथियारों से लैस 'न-कुछ' टौमी हमपर राज्य कर रहे थे, विदेशों से हमारी रक्षा कर रहे थे। हम यह समझे हुए

थे कि अगर यह टौमी चल दिया तो कल रूस हमारे देश को हड़प लेगा। इतना ही क्यों, कावली पठान हमारे देश के मालिक वन जायंगे। हम अपनेको अंगुली पकड़कर चलनेवाले वालक समझे हुए थे और अंग्रेजों को माई-वाप। हमारे पढ़े-लिखे विद्वान्, धार्मिक गुरु, सेठ-साहूकार, यहांतक कि फौजी जवान सवका यह विश्वास था कि अंग्रेजों के हटते ही हम सव लड़ मरेंगे, वरवाद हो जायेंगे, किसीके भी गुलाम वन वैठेंगे। इस भ्रम ने हमें इतना निर्वल वना रखा था कि हम चालीस करोड़, दो हजार अंग्रेजों को निकाल वाहर करने की वात मन में भी नहीं ला सकते थे। सन् २० में अचानक इक्यावन वरस का एक वूढ़ा, मुठ्ठीभर हड्डियों के ढांचेवाला, हमारे इस भ्रमजाल को काट फेंकता है और हम तोप-वन्दूकों की परवा किये विना अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े होते हैं और सिर्फ इने-गिने नारों से ही अंग्रेजी राज्य की जड़ों को हिला देते हैं। उस समय के रीडिंग नामक वाइसराय को विलायत जाकर यह सवको वताना पड़ता है कि अंग्रेजी राज्य हिन्दुस्तान से जाते-जाते वाल-वाल वच गया। सत्ताईस वरस के वाद हम निहत्थे केवल भ्रम से दूर होकर अंग्रेजों को निकाल वाहर करते हैं, और अपने देश के मालिक वन वैठते हैं। ऐसा करके हम संसार के सामने एक अनोखा उदाहरण भी पेश कर देते हैं, वह यह कि आजादी की लगन, आत्म-प्रेम, के द्वारा भ्रमजाल काटा जा सकता है और आत्मा की अपार शक्ति जगाई जा सकती है।

ऐसी वड़ी चीज है। इसका महत्त्व वच्चे-वच्चे के हृदय में

बिठाने के लिए ताश के खेल में इक्के को सबसे बड़ा मान लिया गया है। पर भ्रमजाल में फंसे हम इस महान सत्य और तथ्य को हृदयस्थ ही नहीं कर पाते। हम हिन्दुस्तानी हर तरह एक हैं। एक ही मानव-वृक्ष की शाखा हैं, पत्ते और फल-फूल हैं, यह समझ ही नहीं पाते। पेड़ का तना कड़ा और भोंड़ा होता है। पत्ते हरे और चमकीले होते हैं। फूल सुन्दर और खुशबूदार होते हैं। फल मीठे और रसदार होते हैं, पर सब हैं इसी पेड़ के अंग। एक केवल दूसरा जीवित है। पत्ते जड़ जितना ही महत्व रखते हैं। पत्तों के टूटने पर भी मज़बूत पीड़ सूख जायगी। खजूर के सबसे ऊपर के कुछ पत्ते काटकर फेंक देना खजूर के पेड़ का सिर काट डालना है। वह कुछ ही दिनों में सूखकर गिर जायगा। इसी तरह हम हिन्दुस्तानी चाहे हिन्दू हों चाहे मुसलमान, ईसाई हों या कोई भी और हों, हर तरह भाई-भाई हैं। मुसलमान और ईसाई के कुछ ही पीढ़ियों पहले के पुरखा हिन्दू मिलेंगे। इसलिए हम सब एक ही हैं। अनेकता कोरा भ्रम है। चीन के मुसलमान तो अपनेको बौद्ध मानते हुए मुसलमान कहते हैं। वे इस विचार को किस सुन्दरता से पेश करते हैं। उनका कहना है कि हम हैं तो बौद्ध, क्योंकि हम बुद्ध के अष्टांग धर्म में विश्वास करते हैं, पर कर्म-कांड में हम मुसलमान हैं, क्योंकि हम मस्जिद में नमाज़ पढ़ते हैं, कलमा जानते हैं, रसूल को मानते हैं। यह है उनका भ्रम-जाल-रहित विश्वास। हम हिन्दुस्तानी भी अगर इसी तरह अपना भ्रम-जाल काटकर फेंक दें तो दुनिया में एक महान शक्ति सिद्ध हो सकते हैं— ऐसी महान शक्ति जो सिकन्दर और चंगेजखां की तरह

दुनिया को नेस्तनाबूद करने पर ऊतारू न होकर प्रेम से सारी दुनिया को एकसूत्र में पिरो सकेगी, एक मानव-धर्म की स्थापना कर सकेगी, एक मानव-जाति का निर्माण कर सकेगी। हम फिर न किसी एक नगर के नागरिक रह जायंगे, न एक देश के, न एक भू-खंड के। हम हो जायंगे जागतिक यानी सारे जगत के। आप चाहें तो जागृत भी कह सकते हैं। हम सब सचमुच सोये हुए हैं। जो अनेकता, जो नाश-विनाश, जो एटम बम, हाईड्रोजन बम के तमाशे हम देख रहे हैं, वे एक तरह के स्वप्न ही हैं। जागतिक होकर जब हम जागृत होंगे तो यह सबकुछ न रह जायगा। हम सब भाई-भाई दिखाई देने लगेंगे। एक-दूसरे से गले मिल रहे होंगे और अन्यायपूर्ण दुःस्वप्न की चर्चा हँस-हँसकर कर रहे होंगे। पास-पोर्ट और पर-मिट स्वप्न की चीज बन गये होंगे। हिन्दू और मुसलमान, बंगाली, पंजाबी, राजा-रंक, ब्राह्मण-बनिया, चीनी-जापानी, अमरीकी-जर्मनी सब भेद-भाव मिट गये होंगे। इनकी याद कर-करके हम लोग हँस रहे होंगे और यह कह रहे होंगे कि हम कितने मूर्ख थे कि एक मानव-वृक्ष के अंग होते हुए भी अपने अलग-अलग अस्तित्व का अभिमान करते थे। एक-दूसरे के नाश पर उतारू होकर उस मूर्ख का अनुकरण कर रहे थे, जो जिस शाखा पर बैठा था उसीको काट रहा था। जबतक हम अपनेको अलग-अलग माने हुए हैं, हम भ्रमजाल में फंसे हुए हैं।

हम हिन्दुस्तानी उस समय तक आजाद समझने के अधिकारी नहीं, जबतक हम वर्ण-भेद, प्रान्त-भेद, धर्म-भेद, धन्धा-भेद, अवस्था-भेद, अधिकार-भेद इत्यादि भेदों को जड़-मूल से नष्ट न कर दें। ये भेद-प्रभेद बहुत बड़ी

दासतायें हैं, क्योंकि ये अनैक्य का कारण हैं और अनैक्य तो दासता से भी बुरी बला है। याद रहे, ये भेद-प्रभेद देखने में ही कड़े और न टूटने योग्य हैं। वास्तव में न इनमें कोई बल है, न इनका ऐसे ही कोई अस्तित्व है, जैसे स्वप्न के दृश्यों का। जागने यानी भ्रम दूर करने की देर है कि ये सब ऐसे बिला जायंगे, जैसे हवा चलने पर बादल बिला जाता है।

भ्रम कुछ नहीं, पर सबकुछ बना बैठा है। इस कुछ नहीं की तरफ से बेपरवा होना न आज़ाद का काम है, न आत्म-प्रेमी का।

: १६ :

गिरते को सम्भालो

आप आज़ाद हैं। बड़ी खुशी की बात है। पर यह तो कहिये, कितने धोखे खाये हैं ? कितनी बार आप ठगे गये हैं ? कितनी ठोकरें खाई हैं ? कितनों पर से विश्वास खोया है ? सवाल तो आपका ठीक है, पर इसका तो मैंने हिसाब नहीं रखा। जैसे बच्चा यह नहीं बता सकता कि वह कितनी बार गिरकर चलना सीखा है, वैसे ही मैं यह नहीं बता सकता कि मैंने कितने धोखे खाये हैं, कितनी बार ठगा गया हूं ? पर हां, इतना हिम्मत के साथ कह सकता हूं कि कभी अपने किसी साथी पर से मैंने विश्वास नहीं खोया।

तब आप बेशक आज़ाद हैं। यह सुनकर कि आपने अपने विश्वास को कभी डिगने नहीं दिया, मेरा जी उमड़ा चला आ रहा है। आपको छाती से लगा लेने को जी हो रहा है।

आपने ही आज़ादी को माना है, जाना-पहचाना है। उसकी तरंगों पर झूला झूला है।

इसे सच समझिये, कभी कोई अपने मित्र को धोखा नहीं देता। ये परिस्थितियां हैं, जो उससे ऐसा दुष्कृत्य करा लेती हैं। क्या कोई बालक गिरने के लिए गिरता है? वह न गिरना चाहता है, न गिरता है। परिस्थितियां उसे गिराती हैं और वही उसे उठाती हैं। अगर गिरने के वक्त बच्चा गिरे नहीं तो कमर में वह ऐसा झटका खायगा कि उसकी कमर सदा के लिए टेढ़ी हो जायगी। इस तथ्य को लोगों ने अक्सर सुना है और कुछ ने आंखों से देखा भी है कि बहुत ऊंचे से गिरकर भी कभी-कभी बच्चे ही नहीं, जवान और बड़े भी बच जाते हैं। भूकम्प से गिरे हुए मकानों के मलबे में हर उम्र के जीवित आदमी, जीवित पशु और जीवित पक्षी मिले हैं। इसे ईश्वर का चमत्कार कह बैठने से किसी आज़ाद व्यक्ति की तसल्ली नहीं हो सकती। यह कहना सचाई की खोज से भागना है। बचते वे ही हैं, जो बचने की कोशिश नहीं करते। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जो गिरे, वह उठने की कोशिश न करे। मैं कहना यह चाहता हूं कि जिस वक्त वह गिरा, वह इतना अचानक गिरा कि सम्भलने की सोच ही न सका। वह चोट कम खाता है। और जो गिरते-गिरते सम्भलने की कोशिश करने लगता है, वह प्रकृति का सन्तुलन बिगाड़ लेता

देते हैं। उनकी अवाई की खबर पाकर आदमी सचेत हो जाते हैं। यह चेतना प्रकृति का संतुलन खोने में सहायक बन जाती है और यों हज़ारों-लाखों को जान से हाथ धोने पड़ते हैं। मुर्गी के ताज़ा अण्डे को आप घास के मैदान पर कितना ही ऊंचा फेंककर घास पर गिरने दीजिये। वह कभी नहीं टूटेगा। वह हमेशा अपने छोटे भाग के बल आयगा। उसकी छोटी मेहराब हमेशा बहुत मज़बूत होती है। यह एक वैज्ञानिक सचाई है। बोतल को ले लीजिये। वह अगर बेपरवाही से गिराई जाय तो पेंदों के बल गिरेगी और टूटने से बच जायगी। छोटा बच्चा गज़भर ऊंचे पालने से अगर सिर के बल गिरे तो चूतड़ के बल आयगा, उसका सिर फटने से बच जायगा। अगर कहीं मां संभालने लगे तो उसका संतुलन बिगड़ सकता है और वह मौत का शिकार हो सकता है। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूं कि जब भी अपने किसी साथी का पतन होता है तो हमारे प्रति उसकी नीयत सर्वथा खराब नहीं होती। इसलिए अगर हम अपना विश्वास उसपर से हटा लें तो हम सच्चे अर्थों में आज़ाद व्यक्ति नहीं समझे जा सकते।

आज़ाद की यह एक खास पहचान है कि वह गिरे हुओं को उठाने में बहुत आनन्द मानता है। ऐसे काम में लगकर उसकी चाल कितनी धीमी पड़ जायगी, उसकी वह रत्तीभर भी परवा नहीं करता। वह अपनी उन्नति की बात सोचता ही नहीं। अपने साथियों की उन्नति को ही अपनी उन्नति मानता है। जैसे अपने हाथ-पांव, छाती या सिर या छोटे-से-छोटे उपांग अंगुली को भी लेकर साथ आगे बढ़ना प्रगति कहलाता है, वैसे ही अपने कमजोर-से-कमजोर साथी को भी साथ

लेकर आगे बढ़ना आज़ादी की राह में बढ़ना समझा जाता है। इसलिए आज़ादी के पथिक को पग-पग पर रुकना पड़ता है। जो घबरा जाते हैं, उनको सम्भालना पड़ता है, जो भटक गये होते हैं, उन्हें राह पर लाना पड़ता है, जो हिम्मत हार गये होते हैं। उनकी हिम्मत बंधानी पड़ती है। जो निराश हो गये होते हैं, उनमें आशा जगानी पड़ती है। थोड़े में यह कि जिसमें भी जो भी कमज़ोरी आ गई होती है, उसकी वह कमजोरी दूर करनी होती है।

आज़ाद स्वार्थी और मतलबी नहीं होता। स्वार्थी और मतलबी आज़ाद हो नहीं सकता। स्वार्थी, मतलबी यानी दास। फिर आज़ाद कैसा? निस्वार्थी ही आज़ाद होता है। स्वार्थ तो बन्धन है। उसे तो तोड़ना ही पड़ता है।

यह भी याद रहे कि स्वार्थहीन दुनिया में कोई नहीं होता। स्वार्थहीन होना उतना ही असम्भव है, जितना देहहीन होना। पर सदेह व्यक्ति तो आज़ाद होते हैं। इसलिए स्वार्थ-सहित भी आज़ाद होने चाहिए। पर सदेह तो दास भी होते हैं। इसलिए स्वार्थ-सहित भी दास होने चाहिए। दोनों का अन्तर पाठकों की समझ में आ गया होगा। पर हम और साफ किये देते हैं। आज़ाद की देह अपनी होते हुए भी समाज की देह है। यही हाल उसके स्वार्थों का है। इसलिए उसका स्वार्थ कोई उसका स्वार्थ नहीं है। वह सब समाज का स्वार्थ है।

यह बात न उलटबांसी है, न गूढ़। दास की समझ में भले ही न आये, आज़ाद की समझ में आ सकती है। उस आज़ाद की समझ में भी आ सकती है, जिसने आज़ादी के पथ

पर नया-नया पग रखा है और दस-पांच ही डग चल पाया है।

आज़ाद का निस्स्वार्थ गुण उस समय उसके बड़े काम आता है जब वह आगे अपनी विजय देखता है और पीछे किसीको गिरते देखता है। उस समय यही गुण विजय का मोह छुड़ाता है, गिरे हुए व्यक्ति को उठाता है।

मैं सैकड़ों कमाता हूं। खुद तो खा नहीं सकता। बच्चों के लिए कमाता हूं। मैं हजारों कमाता हूं, रिश्तेदारों के लिए कमाता हूं। मैं लाखों कमाता हूं, अपनी जातिवालों के लिए कमाता हूं। मैं करोड़ों कमाता हूं, अपने देशवासियों के लिए कमाता हूं। इसलिए मुझे जितनी आज़ादी चाहिए, वह तो मुझे प्रकृति की ओर से मिली हुई है। उसकी कमाई की जरूरत नहीं। वह है मेरे मन की आज़ादी और मेरे मस्तिष्क की आज़ादी। शेष और आज़ादी तो मैं अपने बालकों के लिए चाहता हूं, अपने रिश्तेदारों के लिए चाहता हूं, अपने देश-वासियों के लिए चाहता हूं। और ज्यादा मिल जाय तो सारी दुनिया के काम आयगी। जिस तरह कुछ गज कपड़ा और कुछ हाथ धरती, कुछ सेर अनाज मेरे पल्ले पड़ता है, उसी तरह हजारों की आज़ादी में एक बटा हजार मेरा है। उस एक बटे हजार में मैं अगर तसल्ली कर बैठूं तो मैं स्वार्थी हूं, मैं दास हूं। अपनी वासनाओं का दास हूं। मेरी मुक्ति नहीं हो सकती। मैं आजाद रहते हुए भी दास रहूंगा। अंग्रेजों के राज्य में गांधी आज़ाद था, पर उसके देशवासी पराधीन थे। इसलिए वह भी पराधीन था। एक की स्वाधीनता, एक की स्वतन्त्रता, एक की आज़ादी है तो, पर कुछ भी नहीं। गधे के सींग और गूलर

के फूल वाक्य में मौजूद मिलेंगे, गधे के सिर और गूलर के पेड़ पर नहीं मिलेंगे। यही हाल है किसीकी आज़ादी का। आज़ाद व्यक्ति इस तत्व को खूब समझता है, तभी तो उसको पतितों से घृणा नहीं होती। अजी, घृणा कैसी ? उनसे उसे प्यार होता है। उनकी खातिर वह बड़ी-से-बड़ी जीत को छोड़ देगा, क्योंकि वह उनके उठाने को सबसे बड़ी जीत समझता है। यही कारण है कि आज़ाद को अपने काम में थकान महसूस नहीं होती। किसने मां को नहीं देखा ? जो बीमारी के कारण आधा सेर बोझा नहीं उठा सकती, वह अपने पांच-सात सेर के बच्चे को गोदी में उठा लेती है, खड़ी हो जाती है। आजाद भी कुछ ऐसी ही मिट्टी के बने होते हैं। वे जो भी आजादी कमाते हैं, वह सब दूसरों के लिए होती है। इसी कारण वे गिरे हुओं को उठाने में वही आनन्द अनुभव करते हैं, जो आजादी कमाने में।

: १७ :

प्रेम में डूबे रहो

आज़ादी की आखिरी मंजिल है प्रेम। जो आज़ाद है और प्रेमी नहीं है, वह अभी बालक है। यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रेमी नहीं है, वह आज़ाद नहीं है। पर इस बात से हमारे पाठक धोखे में पड़ सकते हैं। कुछ भड़क भी सकते हैं। कुछ बिगड़ सकते हैं। इसमें हमारा दोष नहीं। प्रेम शब्द का दोष है।

प्रेम का इतने अर्थों में प्रयोग होता है कि उनकी गिनती

नहीं गिनाई जा सकती । प्रेम में पच्चीसों तरह के दोष आसानी से समा सकते हैं । प्रेम शब्द स्वयं और प्रेम के सारे समानार्थी शब्द प्रेम के असली भाव को नहीं बताते । वे बताते हैं लगाव, जबकि प्रेम, जो हमें अभीष्ट है, जो आज़ादी का चिह्न है, कुछ अलग ही चीज है । यह लगाव से दूर, विलगाव से दूर, यानी रागद्वेष से दूर, वीतरागता के निकट की चीज़ है, वीतरागता नहीं है । वीतरागता का अर्थ होता है दुनियादारी का अन्त । वीतरागी और असंसारी एकार्थवाची शब्द हैं । प्रेमी संसारी होता है । ऐसा प्रेमी ही आज़ाद होता है ।

प्रेम के जितने पर्यायवाची शब्द हैं, वे सब 'पर' की अपेक्षा रखते हैं । लेकिन हमारा प्रेम जो आज़ादी का प्रतीक है, निरपेक्ष होता है । सर्वथा निरपेक्ष कोई गुण नहीं होता, हम इस सिद्धान्त के कायल हैं । इसलिए इस सिद्धान्त को मानते हुए भी हम प्रेम की निरपेक्षता में विश्वास करते हैं । यह उलटबांसी नहीं है । प्रेम आत्म-सापेक्ष होता है । इसलिए हम उसे निरपेक्ष कह रहे हैं ।

ऊपर जो कुछ हमने कहा, उसमें बहुतों के पल्ले कुछ नहीं पड़ा होगा । इसलिए उसको साफ कर देना जरूरी है । बात इतनी ही है कि प्रचलित अर्थ में प्रेम किसी चीज़ से होता है । जानदार से हो या बेजान से हो, औरत से हो या मर्द से हो, पशु से हो या पक्षी से हो, देश से हो या जगत से हो, लोक से हो या परलोक से हो, देवता से हो या देवताओं के देवता परमेश्वर से हो यह सबपर प्रेम है । इसलिए सापेक्ष है । जो प्रेम आज़ादी की आखिरी मंजिल है, उसका इस तरह के प्रेम से कोई सरोकार नहीं । वह प्रेम प्रेम कम, ज्ञान ज्यादा होता है । ज्ञान का अब

है आत्म-शक्ति का ज्ञान, अपनी शक्ति का ज्ञान, अपना ज्ञान। यही ज्ञान प्रेम का रूप ले लेता है।

ऐसे ज्ञान में प्रेम की क्या कोई पहचान है? हां, है। यह दैहिक और मानसिक थकान को इतना कम कर देता है कि वह नाम के लिए रह जाती है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि प्रेमी थकता ही नहीं। आज़ादी अगर थकान मानने लगे तो वह आज़ादी ही क्या!

आप कहेंगे कि हमने तो कोई ऐसा आदमी देखा नहीं। आप ठीक कहते हैं। मैं भी आप ही में से एक हूं। पर मैं इतना जरूर मानता, जानता और देखता हूं कि दुनिया का कोई भी आज़ाद देह-रहित नहीं होता। सब सदेह होते हैं, विदेह नहीं होते। देह आत्मा यानी शक्ति का घोड़ा है। देह थकान मानेगी ही। सिर से पैर तक पुद्गल यानी मैटर की बनी मशीन तक आराम चाहती है। आराम न मिले तो बेकाम हो जाती है। तो आदमी की देह क्यों नहीं आराम चाहेगी! जब देह आत्मा का घोड़ा है तो उसे आराम दिया जाना चाहिए। देह को आत्मा का घोड़ा कहकर हम थोड़ी भूल कर गये। घोड़ा स्वयं जानदार प्राणी है। उसको बहुत थकान होती है। इसलिए हम देह को आत्मा की साइकिल कहेंगे। इस साइकिल को जिस तरह की थकान होती है और जितने कम आराम से वह फिर काम के लिए तैयार हो जाती है, आज़ाद आदमी की देह को भी उतनी ही कम थकान होती है और उतने ही कम आराम के बाद वह फिर काम के लिए तैयार हो जाती है। जिस तरह साइकिल चलती ही जायगी, इन्कार नहीं करेगी, गरम होकर फट जायगी, टूट जायगी, नष्ट हो जायगी,

पर उससे पहले रुकेगी नहीं, वैसे ही आज़ाद आदमी की देह भी काम से इंकार नहीं करेगी, वह चाहे नष्ट क्यों न हो जाय। अब यह देही यानी देहधारी का काम है कि वह उसे आराम दें या न दे।

जबतक देह दुख मानती रहे यानी आलस्य की शिकार होती रहे, तबतक यह समझते रहना चाहिए कि आपमें वह प्रेम नहीं जागा है, जिस शीर्षक के नीचे यह लेख लिखा जा रहा है। प्रेम का मतलब ही है अपनी शक्ति का ज्ञान।

आदमी के अन्दर कितनी शक्ति है, इसका पता आदमी को नहीं होता। आज़ाद को भी अपनी शक्ति का पूरा-पूरा पता नहीं होता, पर दासों और गुलामों से हजारों गुना ज्यादा मालूम होता है। आइये, इस आत्म-शक्ति के खजाने की ओर चुपके से झांक लें।

देखिये, चारपाई पर वह एक मां पड़ी हुई है, जिसे मोतियाझरा निकला हुआ है। तेरह रोज से एक खील उसके मुंह में नहीं गई है। उठकर पानी नहीं पी सकती। लेटे-लेटे उसके मुंह में पानी डालना पड़ता है। थोड़े शब्दों में कहना चाहिए कि वह एकदम निःसहाय और निशक्त है और अकेली है। उसका आठ-नौ महीने का बच्चा उसीके पास खटोले पर सोया हुआ है।

वह देखिये, अचानक एक सांप फन उठाये आता है। खटोले के पास पहुंचा। उसने और उस बच्चे के ऊपर वार करना चाहा। और यह क्या? उसकी निस्सहाय और निशक्त मां कमान से निकले तीर की तरह या बन्दूक से निकली गोली की तरह उठती है और इस जोर से अपना दांया हाथ उस

सांप की गर्दन पर मारती है कि सांप दो गज परे दरवाजे के बाहर जाकर गिरता है। इसके बाद वह चारपाई पर इस तरह गिरती है, जिस तरह कटा हुआ पेड़ गिरता है।

यह देह की शक्ति नहीं थी, आत्म-शक्ति का चमत्कार था। पर मां का आत्म-ज्ञान क्षणिक था। इसलिए शक्ति का चमत्कार भी क्षणिक था। आज़ाद का यही ज्ञान स्थायी होता है और यही ज्ञान प्रेम के रूप में बिखरता रहता है।

इस तरह का अनुभव हरेक को होगा कि उसको चोट लगी है, पर उसे पता ही नहीं लगा कि उसके चोट लगी है। चोट भी मामूली नहीं, खासी गहरी और जोर की। एक घटना सुनिये !

मैं कोई बारह बरस का होऊंगा। रात के नौ बजे बच्चों के साथ आंगन में खेल रहा था। गर्मियों का महीना था। खेलते-खेलते ऐसा मालूम हुआ कि पीठ पर पसीना चू रहा है। पसीना बहने की सुरसुराहट मालूम हुई। झट बांये हाथ से पसीना पोंछ लिया। थोड़ी देर बाद यानी कुछ सेकिण्डों के बाद फिर सुरसुराहट मालूम हुई। फिर पसीना पोंछ लिया। इसी तरह खेलते-खेलते दसियों बार पसीना पोंछा। आध-पौन घंटे खेलकर सो गया। खूब गहरी नींद आई। सुबह साढ़े पांच बजे आंख खुली। शौच गया। मुंह-हाथ धोया। मैं अभी मुंह-हाथ धोकर फ़ारिग भी न हुआ था कि मेरी मां मेरी चारपाई के पास आई। बिस्तर पर नज़र डालते ही उसने आवाज़ दी—"भगवानदीन, इधर तो आ!" मैं दौड़कर पहुंचा। बोली, "अपनी पीठ तो दिखा?" मैंने पीठ दिखाई। वह एकदम बोली, "तेरी पीठ तो खून-खून हो रही है। देख, तेरा

सारा बिस्तर लाल हो गया।" उनके ये शब्द सुनते ही जलन और घाव की तकलीफ शुरू हो गई। यह भी ज्ञान हो गया कि वह दीवार में गढ़ी कील की नोक थी, जिससे नौ इंच लम्बा और सूत-सवासूत गहरा घाव हो गया था। पर मन तो उसे पसीना समझे हुए था।

यह घटना सुनाकर हम यह कहना चाहते हैं कि हमारा ध्यान अगर दूसरी ओर हो तो हमें चोट का पता नहीं चलता। पर यह ज्ञानोपयोग का उदाहरण है, प्रेम का उदाहरण नहीं। आत्म-प्रेम का तो बिलकुल नहीं। पर इस उदाहरण की सहायता से हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि आत्म-प्रेमी इसी तरह देह की ओर से चिन्ता हटा सकता है, हटा लिया करता है। जब चाहे हटा सकता है। इस योग्यता के कारण वह देह से काम लेता है और देह को थकान नहीं होती।

"देह को थकान नहीं होती" यह पद बनता ही नहीं। देह तो पुद्गल यानी मैटर है। उसे थकान से क्या सरोकार! थकान का अनुभव तो उस आत्मा को होता है, जो मोह के जरिये देह से रिश्ता स्थापित करती है। थकान के लिए संस्कृत शब्द वेदना बड़ा सुन्दर है। वेदना का अर्थ है जानना। जानना न सुख है, न दुख। इसलिए वेदना के दो रूप हो जाते हैं। एक अनुकूल वेदना, एक प्रतिकूल वेदना। अनुकूल वेदना का अर्थ है सुख और प्रतिकूल वेदना का अर्थ है दुख। अब पाठक भली-भांति समझ गये होंगे कि सुख-दुख, थकान-आराम इत्यादि देह से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। आत्मा को ये होते ही नहीं। यह तो मोह से जुड़े आत्मा और देह के संपर्क

का परिणाम है। आजाद व्यक्ति को इस तरह का आत्म-ज्ञान अपने-आप हो जाता है।

प्रेम के विषय में जितना गूढ़ विवेचन हम कर गये हैं, इसका सौवां अंश भी सच्चा प्रेमी नहीं कर सकता। मगर सच्चा प्रेमी बिना थके हुए देह से काम ले सकता है, उसका सौवां अंश भी, हम देह को थकाये विना, नहीं कर सकते। कहने का मतलब यह है कि आज़ादी की सच्ची लगन के साथ सच्चा ज्ञान अपने-आप हो जाता है और सच्ची क्रिया भी अपने-आप होने लगती है। आज़ादी की लगन के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रेम किसी सीख या किसी ग्रन्थ-पाठ की अपेक्षा नहीं रखता।

आज़ादी का रसास्वादन कीजिये। उसकी चाट पड़ी कि आत्म-प्रेम जागा। जिस तरह शेर जब लागू हो जाता है तो हर क्षण जान पर खेलने को तैयार रहता है, उसी तरह जब कोई आजाद आत्म-प्रेमी हो जाता है तब वह देह को अपनी आत्मा की साइकिल समझने लगता है, अपनी आत्मा की मोटर समझने लगता है। जब चाहे उसपर सवार होकर चल देता है और कहीं-का-कहीं पहुंच जाता है।

आजाद बनिये और आजादी का रसास्वादन कीजिये।

: १८ :

आजादी के देवता

हूं, उन्हींको अब भी मान रहा हूं।"

"जी नहीं, आप ज़रा अन्दर नज़र डालिये तो आपको पता चलेगा कि आपके देवताओं ने कुछ और ही रूप ले लिया है। यह आज़ाद आदमी ही की कहावत है—'सत्य ही ईश्वर होता है।'

"हां-हां, मैं समझा। मेरे देवता वही हैं, पर सचमुच उनके लक्षण बदल गये हैं। कभी हिंसा मेरी देवी थी, पर आज प्रेम मेरा देवता है, अहिंसा मेरी देवी है। कभी असंयम मेरा इष्टदेव था, आज संयम इष्टदेव है। सचमुच ही मेरे देवता बदल गये हैं।"

"ठीक है, तो अब आप सचमुच आज़ाद हैं।"

दासता की देवी चुराई जा सकती है, लेकिन वही उसे सुख देती मालूम होती है। ऐसे व्यक्ति के लिए झूठ ईश्वर है। वही समय-समय पर उसकी रक्षा करता है। सचाई उसकी समझ में ही नहीं आती। चोरी और झूठ अगर बदनाम न होते और समाज में नीची निगाह से न देखे जाते होते तो वे जरूर पहाड़ की चोटी पर चढ़कर यह कहता कि मैं चोर हूं, मैं झूठा हूं। इसीमें अपनी शान समझता। गुलाम चोरी को चोरी नहीं मानता। झूठ को झूठ नहीं समझता। वह चोरी को साहूकारी और झूठ को सच समझता है। इन देवताओं की पूजा में उसे ऐसा ही रस आता है, जैसा आज़ाद को अपने देवताओं में।

एक ईसाई पादरी के घर में एक दासी थी। वह कभी-कभी पड़ोस से मुर्गी चुरा लाया करती थी। पादरी को जब पता लगा तो एक दिन वह उसे अपने पास बिठाकर उपदेश देने लगा:

पादरी—चोरी करना बहुत बुरा काम है। ईश्वर इससे

नाराज़ होता है।

दासी—चोरी वेशक वुरी चीज़ है। मैं अपने वच्चों को यही उपदेश देती रहती हूं।

पादरी—तो तुम तो चोरी नहीं करती होगी ?

दासी—विलकुल नहीं।

पादरी—तुमने कभी पड़ोसी की मुर्गी तो नहीं चुराई ?

दासी—मुर्गी की भी क्या चोरी होती है ! मुर्गी कोई पड़ोसी पैदा करता है ! उसे तो खुदा हमारे खाने के लिए पैदा करता है। और खुदा इतना छोटा नहीं हो सकता, जो खाने-पीने की चीज़ के लिए मुझे चोर समझे।

लीजिए, कर लीजिये दासता के दर्शन ? देखा आपने दासता का खुदा ? क्या कोई आज़ाद इस तरह सोच सकता है ?

दासी के दर्शन में एक सत्य निहित है। पर उस सत्य को आज़ाद सत्याभास कहता है, यानी सत्य जैसा, सत्य-सा दिखाई देनेवाला। दासी तो अपढ़ थी। उसे क्षमा किया जा सकता है। पर यह जानकर आपको अचरज होगा कि दास्यावस्था में बड़े-बड़े महापंडित भी इसी दर्शन के विश्वासी होते हैं। उन्हें दास के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? वे अपने प्रत्येक विचार के लिए किसी देवता या गुरु के वाक्य को प्रमाण मानते हैं। या उसको इसलिए ठीक समझते हैं कि उसे किसी किताब में ठीक माना है। मतलब यह है कि वे स्वयं सोचने का कष्ट ही नहीं करते। यही कारण है कि आज [illegible] के ढोंग खड़े हो गये हैं।

[illegible] [illegible] कि दासी की बात में कुछ सचाई भी

हूं, उन्हींको अब भी मान रहा हूं।"

"जी नहीं, आप ज़रा अन्दर नज़र डालिये तो आपको पता चलेगा कि आपके देवताओं ने कुछ और ही रूप ले लिया है। यह आज़ाद आदमी ही की कहावत है—'सत्य ही ईश्वर होता है।'

"हां-हां, मैं समझा। मेरे देवता वही हैं, पर सचमुच उनके लक्षण बदल गये हैं। कभी हिंसा मेरी देवी थी, पर आज प्रेम मेरा देवता है, अहिंसा मेरी देवी है। कभी असंयम मेरा इष्टदेव था, आज संयम इष्टदेव है। सचमुच ही मेरे देवता बदल गये हैं।"

"ठीक है, तो अब आप सचमुच आज़ाद हैं।"

दासता की देवी चुराई जा सकती है, लेकिन वही उसे सुख देती मालूम होती है। ऐसे व्यक्ति के लिए झूठ ईश्वर है। वही समय-समय पर उसकी रक्षा करता है। सचाई उसकी समझ में ही नहीं आती। चोरी और झूठ अगर बदनाम न होते और समाज में नीची निगाह से न देखे जाते होते तो वे जरूर पहाड़ की चोटी पर चढ़कर यह कहता कि मैं चोर हूं, मैं झूठा हूं। इसीमें अपनी शान समझता। गुलाम चोरी को चोरी नहीं मानता। झूठ को झूठ नहीं समझता। वह चोरी को साहूकारी और झूठ को सच समझता है। इन देवताओं की पूजा में उसे ऐसा ही रस आता है, जैसा आज़ाद को अपने देवताओं में।

एक ईसाई पादरी के घर में एक दासी थी। वह कभी-कभी पड़ोस से मुर्गी चुरा लाया करती थी। पादरी को जब पता लगा तो एक दिन वह उसे अपने पास बिठाकर उपदेश देने लगा:

पादरी—चोरी करना बहुत बुरा काम है। ईश्वर इससे

नाराज़ होता है।

दासी—चोरी बेशक बुरी चीज़ है। मैं अपने बच्चों को यही उपदेश देती रहती हूं।

पादरी—तो तुम तो चोरी नहीं करती होगी ?

दासी—बिलकुल नहीं।

पादरी—तुमने कभी पड़ोसी की मुर्गी तो नहीं चुराई ?

दासी—मुर्गी की भी क्या चोरी होती है ! मुर्गी कोई पड़ोसी पैदा करता है ! उसे तो खुदा हमारे खाने के लिए पैदा करता है। और खुदा इतना छोटा नहीं हो सकता, जो खाने-पीने की चीज़ के लिए मुझे चोर समझे।

लीजिए, कर लीजिये दासता के दर्शन ? देखा आपने दासता का खुदा ? क्या कोई आज़ाद इस तरह सोच सकता है ?

दासी के दर्शन में एक सत्य निहित है। पर उस सत्य को आज़ाद सत्याभास कहता है, यानी सत्य जैसा, सत्य-सा दिखाई देनेवाला। दासी तो अपढ़ थी। उसे क्षमा किया जा सकता है। पर यह जानकर आपको अचरज होगा कि दास्यावस्था में बड़े-बड़े महापंडित भी इसी दर्शन के विश्वासी होते हैं। उन्हें दास के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? वे अपने प्रत्येक विचार के लिए किसी देवता या गुरु के वाक्य को प्रमाण मानते हैं। या उसको इसलिए ठीक समझते हैं कि उसे किसी किताब ने ठीक माना है। मतलब यह है कि वे स्वयं सोचने का कष्ट ही नहीं करते। यही कारण है कि आज तरह-तरह के दर्शन खड़े हो गये हैं।

हमने अभी कहा कि दासी की बात में कुछ सचाई भी

थी। उसको ज़रा साफ कर देना चाहते हैं। एक दिन हम भी अपने छुटपन में अपनी मां से पूछ बैठे थे कि मकड़ी मक्खी को पकड़ कर खा जाती है। क्या मकड़ी को पाप नहीं लगता? अम्मा ने बताया, "नहीं, मकड़ी को पाप नहीं लगता।" हमारे गले यह बात नहीं उतरी। हम अम्मा से पूछ बैठे, "क्यों?" अम्मा बड़े प्यार से बोली, "बेटे, मकड़ी नहीं जानती कि मक्खी में जान होती है। वह तो उसे अपनी खुराक समझती है और खा डालती है, उसे क्या पाप लगेगा?"

देखा, आपने कितना तर्क-पूर्ण उत्तर है। दासता और इस तरह का खोटा ज्ञान दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसका आज़ाद होने पर यह वाक्य है कि 'सत्य ही ईश्वर होता है', वही आज़ाद होने से पहले सूरज को ईश्वर मानता था और मां के पेट से पैदा हुओं को भगवान और जगदोद्धारक समझता था।

अपना देश हिन्दुस्तान बरसों दास रह चुका है। उन दिनों इस देश के उद्धारकों का दर्शन ही दूसरा था, देवता ही दूसरे थे। सचाई को समझने से जाति-पांति का भेद-भाव नष्ट हो जाता है। वैसे ही किसी बुराई पर उतारू हो जाने पर जाति-पांति का भेद-भाव नष्ट हो जाता है। अन्तर इतना ही होता है कि पहला स्थिर होता है, दूसरा अस्थिर।

दास का ज्ञान और आज़ादी का ज्ञान दो अलग-अलग ज्ञान नहीं हैं। चोरी का ज्ञान चोर को भी होता है, पुलिस को भी होता है, जज को भी होता है। हो सकता है, चोर को ज्यादा हो, क्योंकि उसका यह पेशा है। पुलिस को कम हो

क्योंकि उसने इस ज्ञान को कानून और विधान से पाया है। जज को और भी कम हो, क्योंकि उसने इस ज्ञान को किसी और ही दृष्टि से परखा है। इसलिए यही कहना पड़ेगा कि चोर को जो चोरी का ज्ञान है, वह खोटा ज्ञान है। पुलिस को जो चोरी का ज्ञान है, वह खोटा और खरा है। जज को जो चोरी का ज्ञान है, वह खरा और निर्मल ज्ञान है। इसी कारण तीनों के उपयोग में भेद पड़ जाता है।

वास्तव में देवता अपने-आपमें कुछ भी नहीं। गुण विशेष ही देवता मान लिये गए हैं और गुणों का समुदाय ही ईश्वर का नाम पा गया है। किसी-किसीने सारे गुण और सारे अवगुण ईश्वर के सिर मढ़ दिये। ऐसा करने में उसने कोई भूल नहीं की। अवगुण भी गुणी के पास और स्वयंभू और स्वाधीन के पास शक्तिहीन हो जाते हैं। किसी-किसीको यह भला नहीं लगा। उसने शैतान तैयार कर लिया। मतलब यह कि न शैतान कोई अलग चीज़ और न ईश्वर कहीं अलग विराजमान है। इनको अलग मान बैठना बहुत बड़ा भ्रम है, बहुत बड़ी दासता है। कुछ लोग हैं, जो देह को जेलखाना मानते हैं। पर उसे छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होते। दासता भी कुछ ऐसी ही चीज़ है। उससे बड़े-बड़े महापुरुष भी पूरी तरह तैयार नहीं हुए। जिस तरह हर औरत को दासी कहने में आनन्द आता है वैसे ही हर मर्द को दास कहने में आनन्द आता है। अगर वह किसी तरह राजा या सरकार की दासता स्वीकार न भी करे तो ईश्वर का दास बने बगैर उसका काम नहीं चलता। जिस मनुष्य का यह हाल हो, वह मनुष्य आज़ादी की राह में न जाने किस-किसको देवता मान सकता है।

आज़ादी की राह एकदम सीधी है, क्योंकि वह सच्चाई के कंकरों से कूटकर बनी है। भटक जाने के लिए कोई अवसर नहीं है। भटकना तो झूठे को भी नहीं चाहिए, पर वह भटकता तब है, जब झूठ को सच साबित करने की कोशिश करता है। सच्चाई में ऐसा नहीं करना पड़ता।

: १९ :

आज़ादी के गुरु

"मैं आज़ाद हूं।"

"आपके गुरु बदल गये होंगे ?"

"नहीं, मैंने तो कोई नया गुरु नहीं बनाया। जो पहले थे वे ही हैं।"

"तो क्या आप पिंजड़े के तोते और आज़ाद तोते में अंतर नहीं करते ? क्या तांगे में जुता घोड़ा और आज़ाद घोड़ा एक ही चीज़ है ? क्या मालिक की लात खानेवाला कुत्ता अब भी आपको वफ़ादारी का पाठ देता है ? क्या सरकस में आग के चक्कर में होकर निकल जानेवाला शेर अब भी आपको बहादुरी सिखाता है ? यदि नहीं, तो किस तरह आप कह रहे हैं कि आपके गुरु नहीं बदले। आज़ादी तो वह चीज़ है, जो गुरु ही नहीं, गुरुजनों को भी बदल देती है। मां-बाप बदल जाते हैं। पति बदल जाता है।

इस सबसे हम सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि जब कोई किसी एक रंग में गहरा रंग जाता है तो उसके गुरुओं को उसके अनुरूप होना पड़ता है, नहीं तो वे उसके गुरु नहीं रह

जाते। आज़ादी का भी रंग जब किसी पर गहरा चढ़ जाता है तो उसके भी गुरु बदल जाते हैं।

देवताओं की तरह गुरु भी चरित्र का रूप है। गुणों के आधार पर जो क्रियाएँ हो रही होती हैं, सब हमें सीख देती हैं। इसलिए वे ही हमारी गुरु हैं। आज़ाद उन्हींको अपना गुरु मानता है।

ज़रा सोचिये, एक चींटे की आदमी के सामने क्या बिसात है! पर वह है कि आदमी से टक्कर ले बैठता है। एक थे हमारे मित्र। उनके घर में चींटे बेहद निकलते थे। दिन में भी निकलते थे। इतने निकलते थे कि सारे घर में फैल जाते थे। उनसे वे ही तंग नहीं थे, सारा घर तंग था। चींटों को मारते हुए उन्हें दया आती हो, ऐसी बात नहीं थी। पर जिस तरह शेर चूहे को मारना अपनी शान के खिलाफ समझता है, वैसे ही वे चींटों को मारना शान के खिलाफ समझते थे। पर उनसे बचने का जो उपाय करते थे, वह शायद चींटों के मारने से कम न था। वह करते थे यह कि उन्होंने तामचीनी की एक काफी बड़ी चिलमची खरीद ली थी। घर के किसी कोने में एक रोटी रख देते थे। जल्दी ही उस पर सैकड़ों चींटे आ चिपकते थे। उस रोटी को वे धीरे-से उठाकर चिलमची में रख देते थे। इस प्रकार चींटे चिलमची में कैद हो जाते थे। रोटी फिर चींटों के बिल के पास रख देते थे। इस तरह जब चिलमची में बेहद चींटे हो जाते थे तो नहर पार जाकर उन्हें छोड़ आते थे। यह क्रिया छः महीने चली। पर न चींटों ने हार मानी, न हमारे मित्र ने। हां, इतना हुआ कि चींटों ने आक्रमण का ढंग बदल दिया। वे दिन की बजाय रात को

निकलने लगे। हमारे मित्र भी उनको रात के दो बजे उठकर पकड़ने लगे। उन्होंने अपनी कार्य-प्रणाली में कुछ तबदीली की। टीन के सूप में झाड़ू से चींटों को भर लेते और चिलमची में डाल देते। इसमें सम्भव था कि एक-दो चींटे आहत हो जाते हों, पर फूल की झाड़ू थी, इसलिए आहत होने की कम ही सम्भावना थी।

यह युद्ध कई बरस तक चला। अन्त में हार हमारे मित्र को ही माननी पड़ी। चींटों के सतत काम करते रहने का धर्म उनका गुरु बन बैठा और अब वह जिस काम में जुटते, जी-जान से जुटते। हमें तो याद नहीं पड़ता कि वह कभी किसी काम में असफल हुए हों। जिस काम में लगते, सफल होकर ही रहते। इस तरह चींटे उनके गुरु बन गये।

सचमुच आज़ादी की राह ही ऐसी है कि पग-पग पर गुरु मिलते रहते हैं। कहीं मकड़ी गुरु बन बैठती है तो कहीं ऊद-बिलाव। अश्वत्थामा का गुरु तो उल्लू ही बन बैठा। इतिहास ऐसे गुरुओं से भरा पड़ा है। इतिहास में लोग दासत्व की राह भी गये हैं और आज़ादी की राह भी गये हैं, और दोनों कहते यही रहे हैं कि वे आज़ादी की राह जा रहे हैं। वे कुछ भी कहें, पर जो सचाई की राह चलता है, वह पलक मारते ही परख सकता है कि इतिहास में कौन आज़ादी की राह गया है और कौन दासत्व की राह।

अब आप गुरुओं को पहचान गये होंगे। गुरुओं से हमारा मतलब उन गुरुओं से नहीं है, जो किसी खास वेश में रहते हैं, और जो अनगिनत पाये जाते हैं। हमारा मतलब उन सब क्रियाओं से है, जिन्हें आज़ादी की राह पर चलनेवाले करते

हैं, या जो प्राकृतिक आज़ादी का उपभोग कर रहे हैं और निरन्तर इस क्रिया में रत हैं।

जो इस तरह के गुरु को नहीं खोज पाता, वह न आज़ादी की राह पर चल रहा है और न कभी आजाद हो सकेगा।

: २० :

आज़ादी के ग्रन्थ

"मैं आज़ाद हूं।"

"तब तो आपके सब ग्रंथ ही बदल गये होंगे? आपका शास्त्र ही अलग हो गया होगा? एक नया दर्शन खड़ा हो गया होगा?"

"जी नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है। मैं तो उन्हीं किताबों को पढ़ता हूं, जिन्हें पहले पढ़ा करता था।"

"तो क्या कभी आप अपने दिल की किताब खोलकर नहीं देखते?"

"ओहो! आपका यह मतलब है! उसे तो मैं हर वक्त पढ़ता रहता हूं।"

"उसमें कुछ बदलाव हुआ?"

"बेशक, वह तो एकदम बदल गई।"

एक ही धरती से गन्ना मिठास खींच लेता है, नीबू खटास, नीम कड़वाहट और हरड़ कसैलापन। यही हाल है ग्रन्थों का। उसमें से आज़ाद आज़ादी-वर्धक रस खींच लेगा और दास दासता बढ़ानेवाली सामग्री। यह एक आज़ाद के मुंह से निकले हुए शब्द हैं कि अगर छुआछूत का विधान वेद में

मौजूद है तो मैं वेदों को वेद नहीं मानूंगा। वह ग्रन्थ, ग्रन्थ कहलाने के योग्य नहीं, जो उल्टे-सीधे किसी भी तरह से दासता का समर्थन करता हो।

बात यह है कि ग्रन्थों को आज़ाद व्यक्ति के अनुरूप बनना होता है, नहीं तो वे उससे आदर नहीं पा सकते। कौन नहीं जानता कि गाय के थनों को अगर जोंक लगा दी जाय तो वह खून ही को पियेगी, दूध को नहीं। उसके लिए गाय के थन कुछ और ही बन जाते हैं। उसी तरह एक ग्रन्थ जो दास को दासता का समर्थन करता दिखलाई देता है, वही आज़ाद को आज़ादी की सीख देता हुआ प्रतीत होता है। अगर सचमुच कोई ग्रन्थ ऐसा हठीला है कि वह अपनी दासता को ढीला नहीं कर सकता तो वहां दास उतना ही कड़ा बन जाता है और उस आदर को छीन लेता है, जो उस ग्रन्थ को पहले प्राप्त था।

आज़ाद की दुनिया ही बदल जाती है। फिर ग्रन्थ क्यों नहीं बदलेंगे? खोटे ग्रन्थ दुनिया से नष्ट नहीं हो सकते। कांटे नष्ट नहीं होते, पर वे फूल की उन्नति में बाधक नहीं होते। इसी तरह खोटे ग्रन्थ आज़ादी के फूलों को खिलने से नहीं रोक सकते। ग्रन्थों की एक दासता है और वह ऐसी दासता है, जिसकी जंजीरें तोड़ना अत्यन्त कठिन है। कभी-कभी उनको तोड़ना कष्टदायक बन बैठता है। आज़ाद दया के मोह में फंस जाता है। ग्रन्थरूपी बेड़ियों को काटते-काटते रुक जाता है। ग्रन्थों के बन्धन से मुक्त होना आज़ादी की चरम सीमा है।

सारा विधि-विधान दासता का द्योतक है। वह दासों के लिए

निर्माण किया गया है। किसीके रसोई-घर में अगर दीवार पर यह लिखा हो कि यहां थूको मत, तो क्या वह घर कहलाने के काबिल है ? मन्दिरों और मस्जिदों में भी अगर थूको मत की पट्टियां लगने लगें, या 'जूते उतारकर आइये' का बोर्ड लगने लगे तो यही समझना चाहिए कि समाज का घोर पतन हो गया है, समाज दासता के गढ़े में जा गिरा है। इसी तरह वह आज़ाद व्यक्ति क्या, जो नैतिक नियमों के लिए किसी ग्रन्थ में हवाला ढूंढ़ता फिरे। ग्रन्थ उसके सोचे हुए हैं। वे अपने में सीमित हैं। आज़ाद व्यक्ति निस्सीम होता है। यदि नहीं है तो उसे होना चाहिए।

आगे हम एक बहुत बड़ी बात जो लिखने जा रहे हैं, उस-पर अमल करना कठिन है। हमारे रास्ते में भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयां आई हैं। पर उन बातों पर अमल करनेवाला ही पूरा आज़ाद समझा जा सकता है। इस तरह का आज़ाद होना बेशक बहुत मुश्किल है, पर असम्भव नहीं है, अशक्य नहीं है। प्रयत्न से मन और मस्तिष्क को वैसा बनाया जा सकता है। हमने अपनी आंखों एक मां और उसीकी जवान बेटी को ग्रन्थ की दासता से बरी होते देखा है। हमने उनकी नकल की। या यों कहिये, उनका अनुकरण किया। हमें किसी हद तक सफलता मिली, पर पूरी नहीं।

आप सब जानते हैं कि काव्य ग्रंथों में रसों का वर्णन रहता है। जो बात कही जाती है वह नौ रसों में से किसी एक रस को लिये हुए होती है। ये रस मानव-हृदय पर अपना प्रभाव डालते हैं। उसमें तूफान उठा देते हैं। मनुष्य का हृदय तरंग-हीन तो नहीं हो सकता, पर तूफान-रहित होना सम्भव

है और आज़ाद व्यक्ति पूरी तरह से आज़ाद है, जब उसमें यह योग्यता आ जाती है कि वह अपने मन में तूफ़ान नहीं उठने देता, और यही है ग्रन्थ-बन्धन से मुक्ति।

इसीको हम यों साफ़-साफ़ कहेंगे कि रामायण के न राम से हमारा कोई रिश्ता है, न रावण से। पर इस काव्य ग्रन्थ की रचना कुछ इस ढंग से की गई है कि राम हमारे बन जाते हैं और रावण पराया हो जाता है। राम के गुण हमारे लिए सूरज बन जाते हैं और अवगुण दिन के खद्योत रह जाते हैं, अर्थात अवगुण अवगुण ही नहीं रह जाते। परिणाम यह होता है कि उनके दुःख में हम दुःखी हो उठते हैं।

आपने समझ लिया होगा कि ग्रन्थों से प्रभावित न होना कितना कठिन कार्य है। पर वे मां-बेटियां दोनों न ग्रन्थों से प्रभावित होती थीं, न सिनेमा की फिल्मों से। बेशक मां मामूली पढ़ी-लिखी थी। पर विदुषियों की सोहबत में रही थी। हर विषय को समझती थी। दस सन्तानों की मां बन चुकी थी। नौ को बड़ी-बड़ी उम्र में गवां चुकी थी, उनमें से किसी की भी बात को अपने मुंह पर नहीं लाती थी। सांसारिक सुख-दुख उसको बहुत ही कम विचलित करता था। खाली तो वह क्षण-भर भी नहीं बैठ सकती थी। जहां खाली हुई कि नींद आई। हां, बेटी स्कूल और कालिज में पढ़ चुकी थी, ग्रेजुएट और बी. टी. थी।

जब ये दो आत्माएं ग्रन्थों में लिखी बातों से अप्रभावित रह सकती हैं तो फिर क्यों और दूसरे नहीं रह सकते?

हमारा तो यह खयाल है कि इस तरह के आज़ाद व्यक्ति ही देव-पुरुष कहलायेंगे। महामानव के नाम से पुकारे

जायंगे। अंग्रेजी शब्द 'सुपरमैन' इन्हींको लेकर गढ़ा गया है।

ऐसे आदमियों का राष्ट्र या जगत वर्गहीन ही नहीं, विधान-हीन भी होगा और शासन-हीन तो होगा ही।

यह कहकर हम पाठकों की हिम्मत पस्त करना नहीं चाहते। सिर्फ एक आदर्श उनके सामने रखना चाहते हैं और वह भी कोई असम्भव आदर्श नहीं है। इस समय तो पाठकों से सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि वे यथा-शक्ति, 'ग्रन्थ-मूढ़ता' से बचें। 'लोक-मूढ़ता' भी 'ग्रन्थ-मूढ़ता' का अंग है, क्योंकि सारी रूढ़ियां और रिवाज अपनी जड़ इन ग्रन्थों में ही तो रखते हैं। इसलिए आज़ाद पथ पर चलनेवालों को इस कमजोरी से भी मुक्त देखना हमारा अभीष्ट है।

: २१ :

आज़ाद करना

हम आज़ाद हैं, यह कहना आसान है। हम आज़ाद हो गये, यह कह बैठना जल्दबाजी है। आज़ाद होना ज़रा मुश्किल काम है। आज़ाद होने में स्वावलम्बी होना पड़ता है। अपना काम होने से वह कुछ आसान काम है। पर किसी को आज़ाद करना-कराना आज़ाद हो जाने से कहीं ज्यादा कठिन है। यह तो याद ही रखना चाहिए कि आज़ादी पूरी आज़ादी नाम कभी नहीं पाती, जबतक आज़ादी आज़ाद करना और आज़ाद कराना न सीख ले। आज़ाद होना निकम्मा और अधूरा हैं, अगर हमारे आस-पास आज़ाद नहीं हैं। पड़ोसी की पराधीनता हमारी स्वाधीनता को घुन लगा देगी, खतरे में डाल देगी।

मेरा स्वाधीन होना निरर्थक है, अगर मेरे भाई-बहन पराधीन हैं या मेरे माता-पिता परावलम्बी हैं।

स्वाधीन होने से स्वाधीन करना या स्वाधीन कराना बहुत ऊंचे दर्जे का काम माना गया है। यह ठीक है कि स्वाधीन ही किसी दूसरे को स्वाधीन करा सकता है, या आज़ाद ही किसीकी पराधीनता का अन्त कर सकता है। पर छोटे पैमाने पर पराधीन होते हुए भी या पराधीन होकर भी दूसरे को आज़ाद कराया जा सकता है और कराया जाता रहा है। इसलिए स्वाधीन होने से स्वाधीन करने-कराने को बहुत महत्व दिया जाता रहा है। मान लीजिये, एक आदमी कर्ज़ा चुकाने के बदले दास बनाया जा रहा है। एक दूसरा आदमी उसकी जगह दास बनकर उसको दासता से छुड़ा देता, है यह सचमुच बड़े मार्के का काम है। लोग उसकी जितनी तारीफ करें, कम है। पर ऐसा आदमी न तारीफ का भूखा होता है, न तारीफ की खातिर वह इस काम के लिए तैयार होता है। कथा-साहित्य ऐसे अनेक व्यक्ति पेश करता है, जो दूसरों की खातिर फांसी के तख्ते पर लटक गये। आदमी के अन्दर यह एक अनोखी भावना है, जो किसी समय किसीमें उबल पड़ती है। सचमुच यह प्रशंसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है।

विदेशी राज्य से एक आदमी भागकर बड़ी आसानी से आज़ाद हो सकता है, पर यह आज़ादी बढ़िया आज़ादी नहीं मानी जायगी और शायद उससे भागनेवाले की अपनी तसल्ली भी नहीं होगी। वह आज़ादी तो दासता से भी ज्यादा चुभनेवाली सिद्ध हो सकती है।

भारत से इस तरह कितने आदमियों ने विदेश जाकर भी

विदेशी गुलामी की जंजीरें तोड़ीं, पर उन्हें चैन कहां था? उनके भाई गुलामी के शिकंजे में दबे चीख रहे थे। फिर वे कैसे चुप बैठ सकते थे? वे देश को आज़ाद कराने की जी-तोड़ कोशिश करने लगे। अवसर आने पर उसी प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राण होम दिये। पर वीर-पूजा ने जो ढोंगभरा रूप ले लिया है, वह आज़ादी में बाधक होता है। वीर-पूजा का रूप होना चाहिए स्वावलम्बी होने में जुट जाना। परावलम्बन की चाट जीभ को लगे बिना हम कभी पराधीन नहीं हो सकते, और जब भी हम उन वीरों की पूजा में लगते हैं, जिन्होंने हमारे देश को आज़ाद किया। तब हम परावलम्बन की ओर अनजान में ही दौड़ पड़ते हैं। हम स्वावलम्बी होने के स्थान में ऐसी चीजों में अपनी शक्ति जुटा देते हैं, जो उस समय को बरबाद कर देती है, जो स्वावलम्बन में खर्च होता। हम ऐसे निशान खड़े कर देते हैं, जिनकी रक्षा में हमें बेहद शक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि उन निशानों के साथ हम अपनी आबरू का सवाल जो जोड़ देते हैं। इन सब झंझटों से निकलकर जब एक आदमी इन व्यर्थ के अभिमानों को ताक में रखकर आज़ादी के लिए किसी देश को खड़ा कर दे तो उसे चमत्कारी न समझा जाय तो क्या समझा जाय, क्योंकि जो काम हमें असम्भव दिखाई देता था, वह उसने पलक मारते कर दिखाया।

और को जाने दीजिये। हम अपने पिंजड़े के तोते तक को आज़ाद नहीं कर सकते, जो खाता ज्यादा है, कभी-कभी किसी बच्चे की अंगुली भी काट लेता है, पर मनबहलाव कम करता है। जब ऐसे पक्षी को हम आज़ाद नहीं कर सकते तब घोड़ों, गधों, बैलों को आज़ाद करने की बात कैसे सोच सकते हैं?

ऊंट, हाथी सभी तो हमारे सदा दास रहनेवाले जानवर हैं। भैंस, गाय, वकरी, भेड़, इनकी आज़ादी की वात तो हम स्वप्न में भी नहीं सोच सकते, क्योंकि हमारा जीवन ही इनपर अवलम्वित है, अर्थात् हम परावलम्वी हैं। इस परावलम्वन से छूटने के लिए हमें कितने विज्ञान की आवश्यकता होगी, उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

जानवरों को आज़ाद कराने की वात दूर की वात है। अभी तो हमारे लाखों भाई परावलम्वन की कीचड़ में फंसे हुए हैं। उनकी सोचें। इस सभ्यता के युग में वैरिस्टर गांधी चरखा चलाता था और सैकड़ों वैरिस्टरों, वकीलों, सेठों, पंडितों से चरखा चलवाता था। विद्यार्थियों से वर्तन मंजवाता था, और न जाने क्या-क्या करवाता था। सिर्फ मैनचैस्टर की मिलों के अवलम्वन का अन्त करने के लिए, और अचरज है कि मैनचैस्टर की मिलें चीख उठीं, तू-तड़ाक पर उतर आईं, लाठी उठा ली, गोली दाग दी, लेकिन चर्खा था कि सदा चलता रहा।

हम मूर्ख ही साबित होंगे अगर घर में चर्खा और करघा नहीं रखते और उसके काम से पूरी जानकारी नहीं रखते, क्योंकि हमारी मिलें दुश्मन के द्वारा कभी भी एक-दो वम गिराकर नष्ट की जा सकती हैं। पर हमारे रुपये-दो रुपये और आठ-दस रुपये के चरखों पर कोई हजारों-लाखों वम गिराने की नहीं सोच सकता।

देश के हर आदमी को स्वावलम्वी वनाना ही स्वाधीन वनाना है। स्वावलम्वन की सीख से लैस कर देना ही स्वाधीनता को हथियार सौंप देना है और आज़ादी का सच्चा

पाठ दे देना है।

अब आपने समझ लिया होगा कि आज़ाद होना इतना मुश्किल नहीं, जितना आज़ाद करना। अमरीका ने जब नीग्रो गुलामों को आज़ाद किया था तो गुलाम भी रो रहे थे और मालिक और मालकिन भी रो रहे थे, क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे पर अवलम्बित थे। जो दास रखता है, वह आज़ाद नहीं कहला सकता। जेलखाने में यह किसने नहीं देखा कि कैदी पड़ा खुर्राटे ले रहा होता है और वार्डर घूम-घूमकर पहरा दे रहा होता है। जेलर को प्यारी मीठी नींद को अकेला छोड़-कर जेलखाने का चक्कर लगाने आना पड़ता है। कभी-कभी सुपरिंटेंडेन्ट को भी। कहिये, अब कैदी ज़्यादा सुख में है या वह, जिसने उसे कैद में डाल रखा है ?

जिस तरह दासों से मोह छूटना मुश्किल है उसी तरह हुकूमत से मोह छूटना मुश्किल है। पूजा, धन, अधिकार सभी से तो मोह छूटना मुश्किल है। फिर इनके जाल में फंसे हुए सिपाहियों से लेकर सेनापति तक और पटवारी से लेकर मंत्री तक और मामूली पूजकों से लेकर बड़े-बड़े भक्तों तक की रिहाई कैसे हो सकती है ? मठाधीश और पंडे क्या अपने दास बने हुए यजमानों या जिजमानों को कभी रिहा कर सकते हैं ?

अगर आप आज़ाद और आत्म-प्रेमी हैं तो आप दूसरों को भी स्वावलम्बी बनाने लगेंगे, स्वावलम्बन का पाठ देंगे। यह आज़ाद होने से कठिन काम है, पर ऐसा किये बिना न तो आजादी सुरक्षित रह सकती है, न पूरी कही जा सकती है।

याद रखिये, अगर आपने सच्चे जी से आज़ादी को समझ लिया है और अपनेको पहचान लिया है तो आपमें इतनी

शक्ति होनी ही चाहिए कि आपके सम्पर्क-मात्र से आपके साथी स्वावलम्बीपन की सोचें और अगर आप और भी ज्यादा शक्तिशाली हैं तो आप अपने नगर में स्वावलम्बन का तूफान उठा सकते हैं। और भी ज्यादा शक्तिशाली हैं तो देश-भर में स्वावलम्बन की लहर दौड़ा सकते हैं। विश्वास के साथ लगिये तो आपको सफलता मिलेगी।

: २२ :

आज़ादी के काम में आनन्द मानना

किसीको आजाद होते देखकर या आज़ाद करके आनन्द मानना आज़ाद करने-कराने से भी ज्यादा मुश्किल है। जिसे यह अवस्था प्राप्त हो गई, उसे आज़ादी का सिद्ध ही मानना चाहिए। देखने में तो ऐसा मालूम होता है कि इस काम में क्या धरा है। इसमें तो करना-धरना कुछ नहीं है। खुश-ही-खुश होना है। फिर यह कठिनाई किसलिए? अगर चिड़ियाघर के शेर, रीछ, भेड़िये आज़ाद कर दिये जायं तो आप घबरा उठेंगे। आप उस आज़ादी देनेवाले पर बुरी तरह नाराज हो उठेंगे। उसके खिलाफ़ अदालत में मुकदमा दायर कर देंगे और फिर आप कहते हैं कि आज़ादी में आनन्द मानना आसान काम है।

जंगली और फाड़-खाऊ जानवरों को छोड़िये। आइये, जेलखाने से चोर और डाकुओं को रिहा किये देते हैं। क्या आप खुश हो सकते हैं? सरकार के खिलाफ़ एकदम आवाज़ उठ खड़ी होगी कि यह क्या हो रहा है। राजाओं के जन्म-

दिन पर या आज़ादी-दिवस पर कुछ कैदी जरूर छोड़े जाते हैं, पर वे वे ही होते हैं जो महीने-दो महीने बाद आप ही अपनी कैद पूरी करके छूटने वाले हैं। इनके छूटने पर जेल के जेलर रो उठते हैं, क्योंकि उनमें से कई कैदी जेल के बड़े काम के आदमी बन गये होते हैं। जिसे जेलखाने का अनुभव है वह जानता है कि जेल का आधा काम जेल के कैदी ही चलाते हैं। बारक के अन्दर का चौकीदार कैदी ही होता है। चौकीदारों की तरह कैदी ओवरसियर और वार्डर भी होते हैं। वे वार्डरों के काम में हाथ बंटाते हैं, कैदियों की देख-भाल करते हैं। जब आम रिहाई होती है तो इन्हींके छूटने का नम्बर आता है। अब जेलर क्यों न रोये ? और वार्डर क्यों न अनमने हों ?

आपने देखा, आज़ाद होते हुए देखकर आनन्द मानना कितना मुश्किल काम है। अब आपकी समझ में आ गया होगा कि इस आनन्द से जिसका मन हिलोरें लेने लगे, वही पूर्ण आज़ाद है, वही पूर्ण मुक्त है, वही सिद्ध है और वही बुद्ध है। पर यह अवस्था प्राप्त होना आसान नहीं है और आसान है भी। जो पूर्ण-रूपेण स्वावलम्बी है, वह इस अवस्था को अपने-आप प्राप्त कर लेता है।

हम आज़ाद होने, आज़ाद करने-कराने और किसी को आज़ाद होते हुए देखकर, आनन्द मानने की बात पर विस्तार से लिख चुके हैं। अब सिर्फ यह कहना है कि कभी-कभी ये क्रियाएं केवल वचन-मात्र से होती हैं। यह अर्थात्, यह कहते सब हैं कि हम आज़ाद हैं, हम आज़ाद करते-कराते हैं और

आज़ादी में हर्षित होते हैं। पर मन और कृति में वे इससे कहीं दूर होते हैं।

आज़ादी वही है, जिसमें मन, वचन, कर्म तीनों एकरूप हो गये हों। तीनों ही आनन्द मना रहे हों। जो आत्मा की प्रेरणा पर समझ-बूझकर आज़ादी के लिए मन, वचन, कर्म से जुटता है वही आज़ाद होता है, वही आज़ादी के महत्व को जानता है। वही आज़ादी का मान बढ़ाता है। वह ऐसा हो ही नहीं सकता कि स्वावलम्वी और स्वाधीन न हो।

जो भी आज़ादी के तत्वों को भली-भांति समझ लेता है, उसके रास्ते में रुकावटें तो आती हैं, पर उन रुकावटों को हटाने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसका सम्बन्ध किसी विशेष ग्रन्थ के स्वाध्याय से नहीं है। यह बात कभी-कभी अपने-आप समझ में आ जाती है और फिर आज़ादी के सातों तत्व वह स्वयं जान जाता है। हो सकता है, उनके नाम उसके अपने हों। यह भी हो सकता है कि उसने अलग-अलग नाम ही न दिये हों। जिस तरह धर्म तत्व को अपढ़ कबीर-साहब और अपढ़ मोहम्मदसाहब समझ सकते हैं और जिस तरह राजनीति के तत्व को अपढ़ हैदरअली और अपढ़ रणजीतसिंह समझ सकते हैं, उसी तरह आज़ादी के तत्व को कोई अपढ़ समझ सकता है। वह अचानक एकदम आज़ाद हो सकता और आत्मशक्ति को पहचानकर आज़ादी का झंडा खड़ा कर सकता है। बरसों के गुलाम देश को आज़ाद करा सकता है।